भगवती सूत्र : एक परिशीलन

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का ३०० वाँ ग्रन्थ

※ **भगवती सूत्र : एक परिशीलन**

※ **लेखक**

श्री वर्धमान श्वे. स्थानक वासी जैन श्रमण संघ के
तृतीय पट्टधर आचार्य देवेन्द्र मुनि

※ **प्रथम अवतरण**

वि. सं. २०४९ अक्षय तृतीया

※ **प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान**

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर ३१३ ००१

※ **मुद्रण सज्जा**

राजेश सुराना द्वारा
दिवाकर प्रकाशन, आगरा-२८२ ००२ हेतु।

※ **लागत मात्र मूल्य**

५०/- पचास रुपया केवल।

श्री मांगीलाल जी सोलंकी, पुना

एक परिचय :

भारत के तत्वचिन्तकों ने जीवन के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन करते हुए लिखा है कि जीवन उसी का श्रेष्ठ है जिसके मन में स्नेह, सद्भावना, उदारता का प्राधान्य है, वही जीवन वस्तुतः धन्य जीवन है। प्रस्तुत कसौटी पर हम धर्मप्रेमी सुश्रावक मांगीलाल जी सोलंकी के जीवन को कसते हैं तो उनका जीवन एक सच्चा जीवन प्रतीत होता है।

आपका जन्म राजस्थान की पावन पुण्य धरा पर सादड़ी-मारवाड़ संवत् में 1987 में हुआ। आपके पूज्य पिता श्री का नाम चुन्नीलाल जी और मातेश्वरी का नाम लालीबाई था। आपके लघु भ्राता का नाम भंवरलाल जी और बहिन का नाम चम्पाबाई था। आपका पाणिग्रहण दलीचन्द जी सा० पुनमिया की सुपुत्री अखण्ड सौ० विजयाबाई के साथ सम्पन्न हुआ। विजयाबाई आपकी तरह ही सरलमना सुश्राविका हैं। पति-पत्नी की यह जोड़ी राम-सीता की तरह आदर्श हैं।

आपके चार सुपुत्र हैं-खबीलाल जी, अमृतलाल जी, केवल चन्द जी और भरतकुमार जी। चारों भाई राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की तरह हैं। जिनमें अपार प्रेम है। आपकी एक सुपुत्री भी है। जिसका नाम सौ० वीणा देवी है। जिसका पाणिग्रहण पुखराज जी मेहता के सुपुत्र ललित जी मेहता सादड़ी (पूना) निवासी के साथ सम्पन्न हुआ।

पिता के पावन संस्कार चारों भाइयों में उजागर हुए हैं।

श्रीमान् खबीलाल जी की पत्नी का नाम सौ० बबीबाई है। आपके दो सुपुत्र हैं— जितेन्द्र और मनोज तथा दो सुपुत्रियाँ हैं— ऊषा और चेतना।

श्रीमान् अमृतलाल जी के धर्मपत्नी का नाम सौ० चम्पावती देवी है। उनके सुपुत्र का नाम गजेश है और भावना, पूनम दो सुपुत्रियाँ हैं।

श्रीमान् केवलचन्द जी के धर्मपत्नी का नाम सौ० तारामती है। आपके हितेश, परेश, और धीरेश ये तीन सुपुत्र हैं।

श्रीमान् भरतकुमार जो के पत्नी का नाम सौ० भानुमति है। आपके पुत्र का नाम कल्पेश और पुत्री का नाम प्रियंका है।

आपका पूरा परिवार धर्मनिष्ठ है और परम गुरु भक्त है।

आपका व्यवसाय पूना में है। सोने, चाँदी के प्रसिद्ध व्यापारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका उदारता पूर्वक अनुदान प्राप्त हुआ है, वह आपके परम गुरुभक्ति का द्योतक है। आपकी धर्म भावना दिन-दुनी रात-चौगुनी फलती फूलती रहे यही जिनेश्वर देव से मंगलकामना करते हैं।

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

प्रकाशकीय बोल

सामान्यतः तत्वज्ञान और आगम का विषय नीरस और दुरूह माना जाता है, इसलिये सामान्य पाठक आगम विषय को अपनी बुद्धि व समझ से अगम्य विषय मानकर पुस्तक देखने से ही सकुचाता है। किन्तु भगवती सूत्र की प्रस्तुत पुस्तक को इसका अपवाद ही माना जायेगा। यह आगम विषयक विशाल पुस्तक होने पर भी बहुत ही रोचक, ज्ञान-वर्धक और विविध विषयों की जानकारी से युक्त है।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने लगभग २५ सूत्रों पर गुरु-गंभीर प्रस्तावनायें लिखी हैं। जो पूरे आगम का अन्तरंग-बहिरंग दर्शन कराने में दर्पण के समान है। आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने उन प्रस्तावनाओं में आवश्यक संशोधन/परिवर्धन करके पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित करने के लिए हमें अनुग्रहीत किया है। हम आचार्य श्री के अपूर्व ज्ञानदान के प्रति हृदय से विनत हैं। कृतज्ञ हैं। इस उपक्रम से आगम अभ्यासी पाठकों को विशेष लाभ मिलेगा। आगम वाचन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन भी मिलेगा। अतः आशा है, हमारे आगम सम्बन्धी प्रकाशन विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

चुन्नीलाल धर्मावत
(कोषाध्यक्ष)
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर

स्वकीय

वह सत्य, सत्य नहीं, जिसमें सरलता का स्पर्श नहीं,
वह ज्ञान, ज्ञान नहीं, जिसमें आत्मा का विमर्श नहीं,
आत्मा को जानने से परमात्मा ज्ञात होता है
और जीवन को जान लेने से, जगत विज्ञात होता है।

जीवन और जगत; यही सबसे गंभीर पहेली है और यही सबसे बड़ा ज्ञातव्य है। जीव और, जगत को सम्यक्रूपेण जान लेने से बन्धन से मुक्ति मिलती है। मुक्ति क्या है ? चिन्मय स्वरूप की उपलब्धि ! जीवन और जगत् विषयक सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का सबसे मुख्य आधार है–आगम, भगवद् वाणी, सर्वज्ञ वचन।

आज का वैज्ञानिक प्रयोगशाला में बैठकर अतीव सूक्ष्म दर्शक यंत्रों से, गणित की गूढ़तम विधियों द्वारा जीव और जगत, आकाश और पाताल, अणु और परमाणु, मन और बुद्धि; चेतना और अवचेतन संस्कारों आदि का विश्लेषण/विवेचन करना चाहता है। वह करता भी है। सत्य की तह तक पहुँचने का प्रयत्न भी करता है। परन्तु फिर भी एक सीमा से आगे उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। बुद्धि की दौड़ की एक सीमा होती है। उस सीमा से आगे अनुमान चलता है, अनुमान से आगे अनुभव और अनुभव से भी आगे चलता है आत्मानुभव।

वैज्ञानिकों की शोध, धारणा, घोषणा और प्रस्थापना परानुभव आश्रित होती है, जबकि सर्वज्ञ वीतराग के वचन आत्मानुभव से उद्भूत होते हैं। वे आत्मद्रष्टा होते हैं। आत्मद्रष्टा का वचन कभी असत्य नहीं हो सकता। वीतराग की वाणी सर्वथा निर्दोष और निराबाध होती है। इसलिये जीव, जीवन और जगत् विषयक ज्ञान का सबसे आधारभूत स्रोत-आगम या भगवद् वाणी ही माना जा सकता है।

वर्तमान में भगवान महावीर की वाणी का प्रमुख आधार अंग सूत्र हैं। अंग सूत्र बारह हैं। बारहवाँ दृष्टिवाद वर्तमान में उपलब्ध नहीं होने के कारण ग्यारह अंग सूत्र ही प्रसिद्ध हैं। ग्यारह अंग सूत्रों में भगवती सूत्र पाँचवाँ अंग है। यह आकार प्रकार, विषय वस्तु आदि सभी दृष्टियों से विशाल है, वृहत्तम है। किसी समय में इसमें गणधर गौतम कृत ३६ हजार प्रश्न एवं भगवान महावीर के उत्तर इस आगम में संदृब्ध थे। परन्तु वर्तमान में वे सभी उपलब्ध नहीं है। फिर भी सैंकड़ों प्रश्न, अनेकों चर्चायें इस आगम में आज भी संग्रहीत हैं, जो हमारे ज्ञान का मुख्य स्रोत बनते हैं।

भगवती सूत्र एक ऐसा रत्नाकर है, जिसमें ज्ञान, विज्ञान की अमूल्य मणियों का अक्षय अनन्त भंडार छुपा है। विषय वस्तु की दृष्टि से भी भगवती सूत्र व्यापक है। अध्यात्म-विद्या और तत्वविद्या से लेकर सृष्टि-विद्या, जीव-विज्ञान, परमाणु-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, तक के अनेकानेक गंभीर विषयों की चर्चा इस आगम में विद्यमान है। जिस प्रकार वेदों में वर्तमान के अनेक जटिल विषयों की चर्चा के आदिसूत्र खोजे जाते हैं इसी प्रकार भगवती सूत्र में परमाणु-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, औषधि-विज्ञान आदि अनेक आधारभूत सिद्धान्त खोजे जा सकते हैं। आवश्यकता है, स्पष्ट और तटस्थ दृष्टि से गंभीर अनुशीलन की।

लगभग १२ वर्ष पूर्व, जब आगम प्रकाशन समिति व्यावर से आगमों का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तब हमारे श्रमणसंघ के बहुश्रुत मनीषी स्व. युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म. ''मधुकर'' ने मुझे आग्रहपूर्वक कहा था कि समिति द्वारा प्रकाशित होने वाले आगमों पर विस्तृत प्रस्तावना लिखने का उत्तरदायित्व मुझे संभालना है। यद्यपि यह मेरी अभिरुचि का विषय था और आगमों के प्रति मेरी गहरी श्रद्धा का परिपोषक भी था । फिर भी आगम पर प्रस्तावना लिखना अपने आप में एक दुरूह और श्रमसाध्य कार्य था। मूल आगम के अनुशीलन के साथ ही उसके व्याख्या ग्रन्थों का परिशीलन और अनेक सहायक ग्रन्थों का अध्ययन तथा फिर विषय वस्तु का वर्गीकरण करना काफी कठिन काम है। फिर भी अन्तरंग अभिरुचि होने के कारण मैंने यह उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया और क्रमशः आगमों पर प्रस्तावनाएँ लिखता गया। यहाँ, यह उल्लेखनीय है कि स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी एक उच्चकोटि के साधक तो थे ही, विनम्र विद्वान, आगम के प्रति असीम आस्थाशील सहज, सरल जीवन वाले दृढ़ संकल्पी संत थे। अस्तु, कण-कण से मेरु बने की सूक्ति के अनुसार धीरे-धीरे आगम प्रस्तावनाओं की सामग्री काफी विशाल रूप में तैयार होती चली गई।

आगम प्रकाशन समिति द्वारा भगवती सूत्र चार भागों में प्रकाशित हुआ है। इस आगम पर मैंने स्व-बुद्धि बलोदयानुसार काफी परिश्रम पूर्वक प्रस्तावना लिखी थी। जिसे स्वयं युवाचार्य श्री ने भी बहुत पसन्द की तथा अनेकानेक पाठकों ने, संत सतियों ने इसे पढ़कर हार्दिक उल्लास व्यक्त किया। उन्हीं की स्नेहमयी प्रेरणा और हार्दिक अभिरुचि से प्रभावित होकर मैंने आगम-प्रस्तावना लिखने का निश्चय किया और अन्य सभी कार्यों को गौणकर इस श्रुत-समुपासना में प्रवृत्त हुआ। अनेक आगम विज्ञों का आग्रह भी था कि आगमों की इन प्रस्तावनाओं का स्वतंत्र रूप में पुस्तकाकार प्रकाशन होना चाहिये। स्व. युवाचार्य श्री भी चाहते थे कि इन प्रस्तावनाओं को स्वतंत्र पुस्तकाकार रूप दिया जाये। आज उनकी भावना साकार हो रही हैं।

आगम की प्रस्तावना ही पूरे आगम का सर्वांग स्वरूप प्रस्तुत करने में सक्षम होती है अतः पाठकों के लिये इसका भी एक महत्व हो जाता है। पाठक की इस भावना के अनुरूप भगवती सूत्र की प्रस्तावना को पुनः परिष्कृत और संशोधित करके यहाँ प्रस्तुत किया गया है। किन्तु प्रस्तावना तो पुस्तक का प्रथम आलोक है। द्वितीय आलोक में भगवती सूत्र के अन्तर्गत गणधर गौतम द्वारा प्रस्तुत विविध जिज्ञासाओं का तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रस्तुत सुन्दर समाधान रूप विविध वार्तायें/दार्शनिक चर्चायें हैं। ये विविध चर्चायें रोचक हैं, ज्ञानवर्धक हैं और पाठकों की जिज्ञासाओं को तृप्त करने वाली है। परिशिष्ट रूप में भगवती सूत्र के कुछ सुभाषितों का संचय भी है। इस प्रकार यह पुस्तक न केवल प्रस्तावना का संग्रह है, किन्तु भगवती सूत्र का सर्वांग स्वरूप दर्शन कराने वाली एक स्वतंत्र रचना का रूप ले लेती है।

मुझे विश्वास है कि इसके स्वाध्याय से पाठकों को गुरु-गम्भीर भगवती सूत्र का नवनीत सहज ही प्राप्त हो सकेगा।

स्व. आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी महाराज की भावना रहती थी कि श्रमणसंघ के श्रमण-श्रमणी आगम-स्वाध्याय की दिशा में निरन्तर प्रगतिशील रहे और मैं उनको सतत प्रेरणा करता हूँ। स्व. आचार्य सम्राट की मनोभावनाओं को साकार रूप देना हम सबका कर्त्तव्य है, अतः अपने परमाराध्य आचार्य सम्राट की मनोभावना को मूर्त रूप देते हुये मुझे प्रसन्नता तथा सन्तोष का अनुभव होता है।

इधर बहुत दिनों से श्रद्धेय गुरुदेव श्री का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है। जिस कारण समयाभाव रहने से मैं लेखन में यथेष्ट ध्यान नहीं दे सकता, फिर अचानक ही आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का स्वर्गवास हो जाने से संघ के अनेक दायित्वों का भार भी आ गया है और जन-संपर्क भी बढ़ गया है। अतः पुस्तक के प्रूफ आदि संशोधन में साहित्य शिल्पी श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना ने हार्दिक सहयोग प्रदान किया है।

गुरुभक्त श्रीमान मांगीलाल जी सोलंकी धर्मशीला श्राविका सौ. विजया बाई मांगीलाल जी सोलंकी तथा उनका धर्मानुरागी परिवार इस प्रकाशन में सहयोगी बना है। यह श्रुत-भक्ति सभी के लिये अनुकरणीय है।

आशा है पुस्तक आगम रसिकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

अनुक्रम

प्रथम आलोक

(१) अन्तर बाह्य अवलोकन

भगवती सूत्र का महत्व	३
व्याख्या प्रज्ञप्ति : बाह्य परिवेश	१३
व्याख्या प्रज्ञप्ति : अन्तरंग दर्शन	१६
गणधर गौतम : एक परिचय	२७
कर्मबन्ध और क्रिया	३३
तप : एक विश्लेषण	४८
परीषह : एक चिन्तन	६५
स्कन्धक परिव्राजक के प्रश्नोत्तर	६७
मृत्यु : एक कला	७२
काल द्रव्य : एक चिन्तन	७६
पौषध : एक चिन्तन	७८
विभज्यवाद : अनेकान्तवाद	८०
धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय : चिन्तन	८३
पाप और उसका फल	८७
सोमिल ब्राह्मण के विचित्र प्रश्न	८८
विविध प्रश्न	९०
मुनि अतिमुक्तक कुमार	९१
देवानन्दा ब्राह्मणी	९१
जमाली	९२
गोशालक	९३
विविध सैद्धान्तिक चिन्तन	९७
द्रव्य गुण-विचार	९७

ज्ञान विषयक चिन्तन १०१
प्रमाण चर्चा १०२
जीव वर्गीकरण १०४
पुद्गल : एक चिन्तन ११९
व्याख्या साहित्य १३२
सन्दर्भ और टिप्पण १३६

द्वितीय आलोक

(२) **दार्शनिक चर्चायें**
लोकवाद १५३
धर्म और दर्शन १५४
शील और श्रुत का समन्वय १५५
तीर्थ १५५
सामायिक और भाण्डोपकरण १५६
व्यवहार १५६
तत्व मीमांसा १५८
लोक सम्बन्धी चर्चायें १५८
आत्मा-विषयक चर्चायें १६७
पंचास्तिकाय विषयक चर्चायें १७७
देव विषयक चर्चायें १८३
परिव्राजक सम्बन्धी चर्चायें १८४
आर्द्रक मुनि और पार्श्वापत्य की चर्चायें १९०
कर्म-मीमांसा १९५
ज्ञान-मीमांसा २०५
अनेकान्त वाद सम्बन्धी चर्चायें २१०
परिशिष्ट २१६
प्रयुक्त ग्रन्थ सूची
पारिभाषिक शब्द कोष २१६
भगवती सूत्र के सुभाषित २४९

१

भगवती सूत्र : एक परिशीलन

अन्तर-बाह्य अवलोकन

भगवतीसूत्र का महत्व

धर्म और संस्कृति का जो विराट् वृक्ष लहलहाता दृग्गोचर हो रहा है, जिसकी जीवनदायिनी छाया और अमृतोपम फलों से जनजीवन अनुप्राणित हो रहा है, उसका मूल क्या है?

उसका मूल है उन तत्त्वद्रष्टा ऋषि-मुनियों का स्वानुभव, चिन्तन, वाणी और उपदेश। वस्तुतः उन तत्त्वद्रष्टा, सत्य के साक्षात्कर्त्ता ऋषि-महर्षि, अरिहन्त, तीर्थंकर, बुद्ध और अवतारों द्वारा लोक-कल्याण हेतु व्यक्त कल्याणी वाणी ही इस संस्कृतिरूपी महावृक्ष का सिंचन/संवर्धन करती आई है। उन महापुरुषों की वह वाणी ही उस-उस परम्परा के आधारभूत मूलग्रन्थों के रूप में प्रतिष्ठित हुई है, जैसे वैदिक ऋषियों की वाणी वेद, बुद्ध की वाणी त्रिपिटक और तीर्थंकरों की वाणी आगम रूप में विश्रुत हुई। महात्मा ईसा के उपदेश बाईबिल के रूप में आज विद्यमान हैं तो मुहम्मद साहब की वाणी कुरान के रूप में समादृत है। जरथुस्त के उपदेश अवेस्ता में प्रतिष्ठित हैं तो नानकदेव की वाणी गुरुग्रन्थ साहब के रूप में। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक धर्म-परम्परा एवं संस्कृति का मूलाधार उसके श्रद्धेय ऋषि-महर्षियों की वाणी ही है।

तीर्थंकर, श्रमणसंस्कृति के परम श्रद्धेय, सत्य के साक्षात् द्रष्टा महापुरुष हैं। उनकी वाणी 'आगम' गणिपिटक के रूप में जैन धर्म एवं संस्कृति का मूल आधार है। इन्हीं आगमवचनों के दिव्य प्रकाश में युग-युग से मानव अपने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहा है। आगमवाणी साधकों के लिए प्रकाशस्तम्भ की भांति सदा-सर्वदा मार्गदर्शक रही है।

आगम-परिभाषा

आगम शब्द का प्रयोग जैन परम्परा के आदरणीय ग्रन्थों के लिए हुआ है। आगम शब्द का अर्थ ज्ञान है। आचारांग में **'आगमेत्ता आणवेज्जा'**[1] वाक्य का प्रयोग है, जिसका संस्कृत रूपान्तर है **'ज्ञात्वा आज्ञापयेत'**—जान करके आज्ञा करे। **'लाघवं आगममाणे'**[2] का संस्कृत रूपान्तर है **'लाघवम् आगमयन् अवबुध्यमानः'** लघुता को जानता हुआ।

व्यवहारभाष्य[३] में आगम-व्यवहार पर चिंतन करते हुए आगम के प्रत्यक्ष और परोक्ष, ये दो भेद किए हैं। प्रत्यक्ष में केवलज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, अवधिज्ञान और इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान को लिया गया है तथा परोक्ष ज्ञान में चतुर्दश पूर्व और उससे न्यून श्रुतज्ञान को लिया है। इससे यह स्पष्ट है कि आगम साक्षात् ज्ञान (प्रत्यक्ष आगम) है। साक्षात् ज्ञान के आधार से जो उपदेश प्रदान किया जाता है और उससे श्रोताओं को जो ज्ञान होता है-वह परोक्ष आगम है। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त के उपदेश को परोक्ष आगम माना गया है। परोक्ष आगम भी दो प्रकार का है-(१) अलौकिक आगम और (२) लौकिक आगम। केवलज्ञानी या श्रुतज्ञानी के उपदेशों का जिसमें संकलन हो, वह शास्त्र भी आगम की अभिधा से अभिहित किया जाता है।

आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार में आगम शब्द का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में किया है। उन्होंने जीव के ज्ञान-गुणरूप प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम- ये चार प्रकार बताए हैं,[४] भगवती[५] स्थानाङ्ग[६] में भी ये भेद आये हैं। यहाँ पर आगम प्रमाण ज्ञान के अर्थ में ही आया है। महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों को लौकिक आगम की अभिधा दी गई है तो अरिहन्त द्वारा प्ररूपित द्वादशांग गणिपिटक को लोकोत्तर आगम कहा गया है। लोकोत्तर आगम को भावश्रुत भी कहा है[७]। ग्रन्थ आदि को द्रव्यश्रुत की संज्ञा दी गई है और श्रुतज्ञान को भावश्रुत कहा गया है। ग्रन्थ आदि को उपचार से श्रुत कहा है। द्वादशांगी में जिस श्रुतज्ञान का प्रतिपादन हुआ है, वही सम्यक् श्रुत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आगम की दूसरी संज्ञा ही श्रुत है।

श्रुत और श्रुति

श्रुत और श्रुति ये दो शब्द हैं। श्रुति शब्द का प्रयोग वेदों के लिए मुख्य रूप से होता रहा है। श्रुति वेदों की पुरातन संज्ञा है और श्रुत शब्द जैन आगमों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। श्रुति और श्रुत में शब्द और अर्थ की दृष्टि से बहुत अधिक साम्य है। श्रुति और श्रुत दोनों का ही सम्बन्ध श्रवण से है। जो सुनने में आता है वह श्रुत है[८] और वही भाववाचक मात्र श्रवण श्रुति है। श्रुत और श्रुति का वास्तविक अर्थ है-वह शब्द जो यथार्थ हो, प्रमाण रूप हो और जनमंगलकारी हो। चाहे श्रमणपरम्परा हो, चाहे ब्राह्मणपरम्परा हो; दोनों परम्पराओं ने यथार्थ ज्ञाता, वीतराग आप्त पुरुषों

के यथार्थ तत्त्ववचनों को ही श्रुत और श्रुति कहा है। अतीत काल में गुरु के मुखारविन्द से ही शिष्यगण ज्ञान श्रवण करते थे, इसीलिए वेद की संज्ञा श्रुति है और जैन आगमों की संज्ञा श्रुत है। जैन आगमों के प्रारम्भ में **'सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं'** वाक्य का प्रयोग है। लम्बे समय तक श्रुत सुन करके ही स्मृतिपटल पर रखा जाता रहा है। जब स्मृतियाँ धुंधली हुईं, तब श्रुत लिखा गया।[९] यही बात वेद और पाली पिटकों के लिए भी है। श्रुत के सम्बन्ध में तत्त्वार्थभाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार सिद्धसेन गणी ने लिखा है–इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ग्रन्थानुसारी विज्ञान श्रुत है।[१०]

आगम का पर्यायवाची सूत्र

अनुयोगद्वार सूत्र में आगम के लिए 'सुत्तागमे' शब्द का प्रयोग हुआ है। आगम का अपर नाम सूत्र भी है। एक विशिष्ट प्रकार की शैली में लिखे गये ग्रन्थ सूत्र के नाम से जाने जाते हैं। वैदिक परम्परा में गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि अनेक धर्मग्रन्थ सूत्र की विधा में लिखे गए हैं। व्याकरण में भी सूत्र शैली को अपनाया गया है। सूत्र शैली की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें कम शब्दों में ऐसी बात कही जाती है जो व्यापक और विराट् अर्थ को लिए हुए हो। इस प्रकार की जो विशिष्ट शब्द-रचना है, वह सूत्र कहलाती है। यहाँ पर यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि सूत्र की जो परिभाषा की गई है–जो सूचना दे या संक्षेप में व्यापक अर्थ को बताये, वह सूत्र है; तो इस परिभाषा के अनुसार जैन आगमों को सूत्र की संज्ञा देना कहाँ तक उपयुक्त है? वैदिक परम्परा के गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र जो बहुत ही संक्षेप में लिखे हुए हैं, वैसे जैन आगम नहीं लिखे गये हैं।

समाधान है–वैदिक परम्परा में वैदिक आचार के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार के उपदेश हैं, उन उपदेशों का गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र में संग्रह किया गया है। बिखरे हुए आचार-चिन्तन को सूत्रबद्ध कर सुरक्षित किया गया है, वैसे ही जैन धर्म और दर्शन के आचार और विचार के विभिन्न पहलुओं को ग्रन्थों में आबद्ध कर सुरक्षित करने के कारण ये आगम, सूत्र कहे गये। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में कहा है–तीर्थंकर अर्थरूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध करते हैं[११]। द्वादशांगी में दूसरे अंग का नाम सूत्रकृतांग है और बौद्ध त्रिपिटकों में द्वितीय पिटक का नाम सुत्तपिटक है। इन दोनों ग्रन्थों में सूत्र शब्द का प्रयोग हुआ है, ये दोनों ग्रन्थ सूत्र शैली में नहीं है तथापि इन दोनों ग्रन्थों में जो सूत्र शब्द आया है, वह **सूत्रमनुसरन्**

रजः अष्टप्रकारं कर्म अपनयति ततः सरणात् सूत्रम् (वृहत्कल्प टीका पृ. ७५) जिसके अनुसरण से कर्मों का सरण/अपनयन होता है वह सूत्र है; इस अर्थ में है। जैन आगमों में विविध प्रकार के अर्थों का बोध कराने की शक्ति रही हुई है, इसलिए भी जैन आगमों को सूत्र कहा गया है।

आगम का पर्यायवाची : प्रवचन

आगम का एक पर्यायवाची शब्द 'प्रवचन' भी है। सामान्य व्यक्ति की वाणी वचन है और विशिष्ट महापुरुषों के वचन प्रवचन हैं। आगम साहित्य में प्रशस्त और प्रधान श्रुतज्ञान को प्रवचन की संज्ञा ही गई है। आगमों में अनेक स्थलों पर निर्ग्रन्थ प्रवचन शब्द का प्रयोग हुआ है। भगवती में साधकों के जीवन का चित्रण करते हुए कहा है **'णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे .... निग्गंथे पावयणे निस्संकिया'**[१२] अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थ वाला है, परमार्थ वाला है, शेष अनर्थकारी हैं .... निर्ग्रन्थ प्रवचन में निःशंकित हो अर्थात् उसकी सम्पूर्ण आस्था निर्ग्रन्थ प्रवचन में ही केन्द्रित हो।

गणधर गौतम ने एक बार जिज्ञासा प्रस्तुत की–"भगवन् ! प्रवचन, प्रवचन कहलाता है या प्रवचनी, प्रवचन कहलाता है।"

समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा–"अरिहन्त प्रवचनी है और द्वादश अंग प्रवचन है।"[१३]

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है–तप-नियम-ज्ञानरूप वृक्ष पर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान् भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपट पर उन कुसुमों को झेलकर प्रवचनमाला गूंथते हैं।[१४] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने निर्युक्ति में आए हुए प्रवचन शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है–**'पगयं वयणं पवयणमिह सुयनाणं'...........'पवयणमहवा संघो'**[१५] अर्थात् प्रकट वचन ही प्रवचन है; दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संघ प्रवचन है। संघ को प्रवचन कहने का कारण यह है कि संघ का जो ज्ञानोपयोग है–वही प्रवचन है। इसलिए संघ और ज्ञान का अभेद मानकर संघ को प्रवचन कहा है। यहाँ पर वचन के आगे जो 'प्र' उपसर्ग लगा है; वह प्रशस्त और प्रधान इन दो अर्थों में आया है। प्रशस्त वचन प्रवचन है अथवा प्रधान वचनरूप श्रुतज्ञान प्रवचन है। श्रुतज्ञान में भी द्वादशांगी प्रधान है इसलिए वह द्वादशांगी प्रवचन है।[१६]

प्रवचन के भी शब्द और अर्थ– ये दो रूप हैं। शब्द, सूत्र के नाम से जाना जाता है और उस सूत्र के रचयिता हैं–गणधर। जिस अर्थ के आधार पर गणधरों ने सूत्र की रचना की; उस अर्थ के प्ररूपक हैं– तीर्थंकर।[१७] यहाँ पर भी एक प्रश्न समुत्पन्न होता है कि तीर्थंकरों ने अर्थ का उपदेश दिया– क्या वह अर्थ का उपदेश बिना शब्द का था? बिना शब्द के उपदेश देना सम्भव ही नहीं है, तो शब्दों के रचयिता गणधर क्यों माने जाते हैं? तीर्थंकर क्यों नहीं ?

इस प्रश्न का समाधान जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने इस प्रकार किया है– तीर्थंकर भगवान् अनुक्रम से बारह अंगों का यथावत् उपदेश प्रदान नहीं करते किन्तु संक्षेप में सिद्धान्त उपदेश देते हैं। उस संक्षिप्त उपदेश को गणधर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से बारह अंगों में इस प्रकार संग्रथित करते हैं, जिससे सभी सरलता से समझ सकें। इस प्रकार अर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर हैं और सूत्र के कर्त्ता गणधर हैं। संक्षेप में तीर्थंकरों का उपदेश किस प्रकार होता है इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है–'**उप्पन्ने इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा**'। इस मातृकापदत्रय का ही उपदेश तीर्थंकर प्रदान करते हैं और उसी का विस्तार गणधर द्वादशांगी के रूप में करते हैं।[१८]

सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम,[१९] आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय, जिनवचन[२०] और श्रुत, ये सभी आगम के ही पर्यायवाची शब्द हैं। अतीत काल में 'श्रुत' शब्द का प्रयोग आगम के अर्थ में अधिक होता था।[२१] 'श्रुतकेवली', 'श्रुतस्थविर'[२२] शब्द का प्रयोग आगमों में अनेक स्थलों पर निहारा जा सकता है पर कहीं पर भी 'आगमकेवली' या 'आगमस्थविर' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

अंग आगमों का मौलिक चिन्तन : परमाणु विज्ञान

आगमों का मौलिक विभाग अंग है। उसमें जहाँ पर धर्म और दर्शन की गम्भीर चर्चाएं हैं, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में गहरा विवेचन है, वहाँ अणु के सम्बन्ध में भी तलस्पर्शी वर्णन है। आज के वैज्ञानिक अणु के सम्बन्ध में अन्वेषण करने में जुटे हुए हैं, किन्तु अणु के सम्बन्ध में जिस सूक्ष्मता से चिन्तन श्रमण भगवान् महावीर ने किया है, उतनी सूक्ष्मता से आधुनिक वैज्ञानिक नहीं कर सके हैं। आज का वैज्ञानिक जिसे अणु कहता है; महावीर उसे स्कन्ध कहते हैं। महावीर की दृष्टि से अणु बहुत ही सूक्ष्म

है। वह स्कन्ध से पृथक् निरंश तत्त्व है। परमाणुपुद्गल[२३] अविभाज्य है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है। ऐसा कोई उपाय, उपचार या उपधि नहीं जिससे उसका विभाग किया जा सके। किसी भी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र और अस्त्र से उसका विभाग नहीं हो सकता। जाज्वल्यमान अग्नि उसे जला नहीं सकती। महामेघ उसे आर्द्र नहीं बना सकता। यदि वह गंगा नदी के प्रतिस्रोत में प्रविष्ट हो जाए तो वह उसे बहा नहीं सकता। परमाणुपुद्गल अनर्ध है, अमध्य है, अप्रदेशी है; सार्ध नहीं है, समध्य नहीं है, सम्प्रदेशी नहीं है।[२४] परमाणु न लम्बा है, न चौड़ा है और न गहरा है। वह इकाई रूप है। सूक्ष्मता के कारण वह स्वयं आदि है, स्वयं मध्य है और स्वयं अन्त है।[२५] जिसका आदि-मध्य-अन्त एक ही है, जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, अविभागी है, ऐसा द्रव्य परमाणु है।[२६]

जीवविज्ञान

परमाणु के सम्बन्ध में ही नहीं, जीवविज्ञान के सम्बन्ध में भी भगवान् महावीर ने जो रहस्य उद्‌घाटित किए हैं, वे अद्‌भुत हैं, अपूर्व हैं। भगवान् महावीर ने जीवों को छह निकायों में विभक्त किया है। त्रसनिकाय के जीव प्रत्यक्ष हैं। वनस्पतिनिकाय के जीव भी आधुनिक विज्ञान के द्वारा मान्य किये जा चुके हैं, किन्तु आधुनिक विज्ञान पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—इन चार निकायों में जीव नहीं समझ पाया है। भगवान् महावीर ने पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु में केवल जीव का अस्तित्व ही नहीं माना है अपितु उनमें आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, लोभसंज्ञा और लोकसंज्ञा का भी अस्तित्व माना है। वे जीव श्वासोच्छ्‌वास भी लेते हैं। मानव जैसे श्वास के समय प्राणवायु ग्रहण करता है वैसे पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय आदि के जीव श्वास काल में केवल वायु को ही ग्रहण नहीं करते अपितु पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और अग्नि, इन सभी के पुद्‌गल द्रव्यों को भी ग्रहण करते हैं।[२७] पृथ्वीकाय के जीवों में भी आहार की इच्छा होती है; वे प्रतिपल, प्रतिक्षण आहार ग्रहण करते रहते हैं। उनमें एक इन्द्रिय होती है और वह है स्पर्श-इन्द्रिय। उसी से उनमें चैतन्य स्पष्ट होता है, अन्य चैतन्य की धाराएं उनमें अस्पष्ट होती हैं।[२८] पृथ्वीकायिक जीवों का अल्पतम जीवनकाल अन्तर्मुहूर्त का है और उत्कृष्ट जीवनकाल २२००० वर्ष का है।

आधुनिक विज्ञान ने वनस्पति के जीवों के सम्बन्ध में अध्ययन कर उसके सम्बन्ध में अनेक रहस्यों को अनावृत किया है। स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार से वनस्पति प्रफुल्लित होती है और घृणापूर्ण व्यवहार से मुरझा जाती है। इस प्रकार की अनेक बातें जीवविज्ञान के सम्बन्ध में आगम साहित्य में आई हैं, जिसे सामान्य बुद्धि ग्रहण नहीं कर पाती। इसी तरह भूगोल और खगोल विद्या के सम्बन्ध में भी जैन आगम साहित्य में पर्याप्त सामग्री है। वैज्ञानिक अभी तक जितना जान पाए हैं, उससे अधिक सामग्री अज्ञात है। केवल पौराणिक चिन्तन कहकर उस सामग्री की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्वेषणा करने पर अनेक नए तथ्य उजागर हो सकते हैं। वैज्ञानिकों को चिन्तन करने के लिए नई दृष्टि प्रदान कर सकते हैं।

जैन आगमों में उस युग की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का भी यत्र-तत्र चित्रण हुआ है। समाज और संस्कृति का अध्ययन करने वाले शोधार्थियों के लिए यह सामग्री बहुत ही दिलचस्प और ज्ञानवर्द्धक है। भाषाविज्ञान और अन्य अनेक दृष्टियों से जैन आगमों का अध्ययन चिन्तन की अभिनव सामग्री प्रदान करने में सक्षम है।

जैन आगमों का मूल स्रोत, वेद नहीं

कितने ही पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञों का यह अभिमत है कि जैन आगम-साहित्य में जो चिन्तन आया है, उसका मूल स्रोत वेद है। क्योंकि वर्तमान में जितना भी साहित्य है, उन सबमें प्राचीनतम साहित्य वेद है। ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है किन्तु आधुनिक अन्वेषणा ने उन विज्ञों के मत को निरस्त कर दिया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त ध्वंसावशेषों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आर्यों के भारत में आने के पूर्व भारतीय संस्कृति और धर्म पूर्ण रूप से विकसित था[११]। शोधार्थी मनीषियों का यह मानना है कि जो आर्य भारत में बाहर से आए थे, उन आर्यों ने वेदों की रचना की। जब वेदों में भारतीय चिन्तन का सम्मिश्रण हुआ तो वेद जो अभारतीय थे; वे भारतीय चिन्तन के रूप में विज्ञों के द्वारा मान्य किए गए। आर्य भ्रमणशील थे, भ्रमणशील होने के कारण उनकी संस्कृति अच्छी तरह से विकसित नहीं हुई थी जबकि भारत के आद्य निवासियों की संस्कृति स्थिर संस्कृति थी। वे एक स्थान पर ही अवस्थित थे, इस कारण उनकी संस्कृति आर्यों की संस्कृति से अधिक विकसित थी, वह एक प्रकार से नागरिक संस्कृति थी। बाहर से आने वाले आर्यों की अपेक्षा

यहाँ के लोग अधिक सुसंस्कृत थे। जब हम वेदों के संहिता विभाग और ब्राह्मण ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन करते हैं तो उन ग्रन्थों में आर्यों के संस्कारों का प्राधान्य दृग्गोचर होता है, पर उसके पश्चात् लिखे गये आरण्यक, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, स्मृतिशास्त्र आदि जो वैदिक परम्परा का साहित्य है, उसमें काफी परिवर्तन हुआ है। बाहर से आए हुए आर्यों ने भारतीय संस्कारों को इस प्रकार से ग्रहण किया कि वे अभारतीय होने पर भी भारतीय बन गए। इन नये संस्कारों का मूल अवैदिक परम्परा में रहा हुआ है। वह अवैदिक परम्परा जैन और बौद्ध परम्परा है। अवैदिक परम्परा के प्रभाव के कारण ही जिन विषयों की चर्चा वेदों में नहीं हुई, उनकी चर्चा उपनिषद् आदि में हुई है। वेदों में आत्मा, पुनर्जन्म, व्रत आदि की चर्चाएं नहीं थीं, पर उपनिषदों में इन पर खुलकर चर्चाएँ हुई हैं और आचारसंहिता में भी परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन का मूल आधार अवैदिक परम्परा रही है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वेदों के पश्चात् जो ग्रन्थ निर्मित हुए उन पर श्रमणसंस्कृति की छाप स्पष्ट रूप से निहारी जा सकती है।

वेदों में सृष्टि तत्त्व के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है तो श्रमणसंस्कृति में संसारतत्त्व पर गहराई से विचार किया गया है। वैदिक दृष्टि से सृष्टि के मूल में एक ही तत्त्व है तो श्रमणसंस्कृति ने संसारतत्त्व के मूल में जड़ और चेतन ये दो तत्त्व माने हैं। वैदिक परम्परा में सृष्टि कब उत्पन्न हुई? इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया गया है तो श्रमणसंस्कृति की दृष्टि से संसारचक्र अनादि काल से चल रहा है। उसका न तो आदि है और न अन्त ही है। वेदों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन महाव्रतों की चर्चा नहीं हुई है। यहाँ तक कि हिंसा और परिग्रह पर बल दिया गया है। वाजसनेयीसंहिता[३०] में पुरुषमेधयज्ञ में १८४ पुरुषों के वध का संकेत किया गया है। ऋग्वेद,[३१] विष्णुस्मृति,[३२] मनुस्मृति[३३] आदि ग्रन्थों में भी यज्ञ-याग के लिए की गई हिंसा को हिंसा नहीं समझा गया है। **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** जैसे गर्हित सूत्र बनाए गए थे। श्रमणसंस्कृति के दिव्य प्रभाव से ही वेदों के पश्चात् निर्मित साहित्य में व्रतों की चर्चाएँ हुई हैं।

डॉ. हरमन जैकोबी का अभिमत है कि जैनों ने अपने व्रत ब्राह्मणों से उधार लिए है।[३४] ब्राह्मण संन्यासी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सन्तोष और मुक्तता– इन महाव्रतों का पालन करते थे जो आगे चलकर जैन महाव्रतों का

आधार बने; पर जैकोबी की इस कल्पना का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। बौधायन में उल्लिखित व्रतों के आधार पर डॉ. जैकोबी ने जो कल्पना की है, वह सत्य तथ्य से परे है। क्योंकि व्रत का सम्बन्ध संन्यास आश्रम से है और वेदों में संन्यास आश्रम की कोई चर्चा नहीं है। वैदिक युग में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो ही व्यवस्थाएँ थीं। संन्यास की चर्चा उपनिषत्काल में प्रारम्भ हुई। बृहदारण्यक में संन्यास का उल्लेख अवश्य हुआ है।[३५] जाबालोपनिषद् में चार आश्रमों की व्यवस्था प्राप्त है।[३६] उपनिषद् साहित्य के पूर्व वैदिक परम्परा में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की प्रधानता थी। तैत्तिरीयसंहिता में वर्णन है कि ब्राह्मण तीन ऋणों के साथ जन्म ग्रहण करता है। ऋषियों के ऋण से मुक्त होने के लिए ब्रह्मचर्य है। देवों के ऋण से मुक्त होने के लिए यज्ञ है और पितरों के ऋण से उऋण होने के लिए पुत्रवान होना आवश्यक है[३७]।

एक बार वेधस राजा ने नारद ऋषि से पूछा–पुत्र से क्या लाभ? नारद ने उत्तर प्रदान करते हुए कहा–यदि पिता अपने पुत्र का मुख देख ले तो पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है और अमर बन जाता है[३८]। इस प्रकार वैदिक परम्परा में पुत्र की प्रधानता रही है। उसे त्राता माना है, जबकि जैनपरम्परा में पुत्र को त्राता नहीं माना है[३९]।

वैदिक परम्परा में गृहस्थ-आश्रम को सबसे प्रमुख आश्रम माना है–जिस प्रकार नदी और नद सागर में आकर स्थिर हो जाते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रम में स्थिर होते हैं[४०]। इससे यह स्पष्ट है कि संन्यास और व्रत की परम्परा श्रमणधर्म की देन है। श्रमणधर्म से ही वैदिक परम्परा ने व्रत आदि को ग्रहण किया है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में महाव्रतों का उल्लेख नहीं है। जिन उपनिषदों, पुराणों और स्मृति ग्रन्थों में महाव्रतों का वर्णन आया है उन पर तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और जैनधर्म का प्रभाव है। इस सत्य को महाकवि दिनकर ने स्वीकार करते हुए लिखा है–हिन्दुत्व और जैनधर्म आपस में घुल-मिल कर अब इतने एकाकार हो गए हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैनधर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं[४१]। अन्य स्वतंत्र चिन्तकों ने भी इस सत्य को बिना संकोच स्वीकार किया है। डॉ. डांडेकर आदि का भी यही अभिमत रहा है।

वेदों में योग और ध्यान की भी प्रक्रिया नहीं है। ऋग्वेद में योग शब्द मिलता है। वहाँ पर योग शब्द का अर्थ जोड़ना मात्र है[४२] । पर आगे चलकर वही योग शब्द उपनिषदों में पूर्ण रूप से आध्यात्मिक अर्थ में आया है।[४३] कितने ही उपनिषदों में तो योग और योगसाधना का सविस्तृत वर्णन किया गया है।[४४] योग, योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, कुण्डलिनी आदि का विशद वर्णन है। सिन्धुसंस्कृति के भग्नावशेषों में ध्यानमुद्रा के प्रतीक प्राप्त हुए हैं, जिससे भी इस कथन को बल प्राप्त होता है। संक्षेप में यही सार है कि जैन आगमों का मूल स्रोत वेद नहीं है। वेदों से उसने सामग्री ग्रहण नहीं की है। उसकी सामग्री का मूल स्रोत तीर्थंकर हैं। केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन समुत्पन्न होने पर सभी जीवों के रक्षा रूप दया के लिए तीर्थंकर पावन प्रवचन करते हैं और वह प्रवचन ही आगम है। इस प्रवचन का स्रोत केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन हैं। इस तरह अंग आगम श्रमणसंस्कृति के प्रतिनिधि तथा आधारभूत ग्रन्थ हैं।

■

व्याख्याप्रज्ञप्ति : बाह्य परिवेश

द्वादशांगी में व्याख्याप्रज्ञप्ति का पाँचवाँ स्थान है। यह आगम प्रश्नोत्तर शैली में लिखा हुआ है, इसलिए इसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। समवायाङ्ग[४५] और नन्दी[४६] में लिखा है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में ३६००० प्रश्नों का व्याकरण है। दिगम्बर परम्परा के आचार्य अकलंक[४७] ने, आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि[४८] ने और आचार्य गुणधर[४९] ने लिखा है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में ६०,००० प्रश्नों का व्याकरण है। उसका प्राकृत नाम 'विहायपण्णत्ति' है। किन्तु प्रतिलिपिकारों ने विवाहपण्णत्ति और वियाहपण्णत्ति ये दोनों नाम भी दिए हैं।

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने वियाहपण्णत्ति का अर्थ करते हुए लिखा है–गौतम आदि शिष्यों को उनके प्रश्नों का उत्तर प्रदान करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने श्रेष्ठतम विधि से जो विविध विषयों का विवेचन किया है, वह गणधर आर्य सुधर्मा द्वारा अपने शिष्य जम्बू को प्ररूपित किया गया। जिसमें विशद विवेचन किया गया हो वह व्याख्याप्रज्ञप्ति है[५०]।

अन्य आगमों की अपेक्षा व्याख्याप्रज्ञप्ति आगम अधिक विशाल है। विषयवस्तु की दृष्टि से भी इसमें विविधता है। विश्वविद्या की ऐसी कोई भी अभिधा नहीं है, जिसकी प्रस्तुत आगम में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में चर्चा न की गई हो। प्रश्नोत्तरों के द्वारा जैन तत्त्वज्ञान, इतिहास की अनेक घटनाएं, विभिन्न व्यक्तियों का वर्णन और विवेचन इतना विस्तृत किया गया है कि प्रबुद्ध पाठक सहज ही विशाल ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से इसे प्राचीन जैन ज्ञान का विश्वकोष कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। इस आगम के प्रति जनमानस में अत्यधिक श्रद्धा रही है। इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं, श्रद्धालु श्राद्धगण भक्ति-भावना से विभोर होकर सद्गुरुओं के मुख से इस आगम को सुनते थे तो एक-एक प्रश्न पर एक-एक स्वर्ण मुद्राएँ ज्ञान-वृद्धि के लिए दान के रूप में प्रदान करते थे। इस प्रकार ३६००० स्वर्ण-मुद्राएँ समर्पित कर व्याख्याप्रज्ञप्ति को श्रद्धालुओं ने सुना है। इस प्रकार इस आगम के प्रति जनमानस में अपार श्रद्धा रही है। श्रद्धा के कारण ही व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षों से तो 'भगवती' विशेषण न रहकर स्वतंत्र नाम हो गया है। वर्तमान में 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' की अपेक्षा 'भगवती' नाम अधिक प्रचलित है।[५१]

समवायाङ्ग में यह बताया गया है कि अनेक देवताओं, राजाओं व राजऋषियों ने भगवान् महावीर से विविध प्रकार के प्रश्न पूछे। भगवान् ने उन सभी प्रश्नों का विस्तार से उत्तर दिये। इस आगम में स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि की व्याख्या की गई है[५२]। आचार्य अकलङ्क के मन्तव्यानुसार प्रस्तुत आगम में जीव है या नहीं? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का निरूपण किया गया है[५३]। आचार्य वीरसेन ने बताया है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रश्नोत्तरों के साथ ही ९६००० छिन्नछेदनयों[५४] से ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन है[५५]।

प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध, एक सौ एक अध्ययन, दस हजार उद्देशनकाल, दस हजार समुद्देशनकाल, छत्तीस हजार प्रश्न और उनके उत्तर, २८८००० पद और संख्यात अक्षर हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णनपरिधि में अनंत गम, अनंत पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते हैं।

आचार्य अभयदेव ने पदों की संख्या २८८००० बताई है तो समवायाङ्ग में पदों की संख्या ८४००० बताई है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन 'शतक' के नाम से विश्रुत हैं। वर्तमान में इसके १३८ शतक और १९२५ उद्देशक प्राप्त होते हैं। प्रथम ३२ शतक पूर्ण स्वतंत्र हैं, तेतीस से उनचालीस तक के सात शतक १२-१२ शतकों के समवाय हैं। चालीसवाँ शतक २१ शतकों का समवाय है। इकतालीसवाँ शतक स्वतंत्र है। कुल मिलाकर १३८ शतक हैं। इनमें ४१ मुख्य और शेष अवान्तर शतक हैं।

■

शतकों में उद्देशक तथा अक्षर-परिमाण इस प्रकार है–

शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण	शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण
१	१०	३८८४१	२३	पांच वर्ग ५०	७१५
२	१०	२३८१८	२४	२४	३९९२६
३	१०	३६७०२	२५	१२	४५१०३
४	१०	७५३	२६	११	४४५५
५	१०	२५६९१	२७	११	१९०
६	१०	१८६५२	२८	११	६९४
७	१०	२४९३५	२९	११	१०२७
८	१०	४८५३४	३०	११	४७६४
९	३४	४५८५९	३१	२८	२३४४
१०	३४	९९०७	३२	२८	३६३
११	०२	३२३३८	३३	(१२) १२४	३,०८९
१२	१०	३२८०८	३४	(१२) १२४	८९६४
१३	१०	२१९१४	३५	(१२)१३२	४१८१
१४	१०	१६०३३	३६	(१२)१३२	७३१
१५	–	३९८१२	३७	(१२)१३२	११५
१६	१४	१५९३९	३८	(१२)१३२	८७
१७	१७	८४१२	३९	(१२)१३२	१३९
१८	१०	२२४४३	४०	(२१)२३१	२७३४
१९	१०	८०२७	४१	१९६	३५१६
२०	१०	११८७१	–	–	–
२१	आठ वर्ग ८०	१६३०	१३८	१९२३	६१८२२४
२२	छह वर्ग ६०	१०६८			कुल योग

व्याख्याप्रज्ञप्ति : अन्तरंग-दर्शन

मंगल

वर्तमान में द्वादशांगी के ग्यारह अंग उपलब्ध हैं। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद इस समय विच्छिन्न हो चुका है। ग्यारह अंगों में से केवल भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में ही मंगलवाक्य है। अन्य किसी भी अंग सूत्र में मंगलवाक्य नहीं है। सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि भगवती में ही मंगलवाक्य क्यों है? इस जिज्ञासा का समाधान दो दृष्टियों से किया जाता है–एक तर्क की दृष्टि से, दूसरा श्रद्धा की दृष्टि से। तार्किक चिन्तकों का अभिमत है कि आगमयुग में मंगलवाक्य की परम्परा नहीं थी। मंगल, अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन ये चारों अनुबन्ध दार्शनिक युग की देन हैं। आगमकार अपने अभिधेय के साथ ही आगम का प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि आगम स्वयं ही मंगल हैं। इसलिए उनमें मंगलवाक्य की आवश्यकता नहीं। दिगम्बर परम्परा के आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने लिखा है कि आगम में मंगलवाक्य का नियम नहीं है, क्योंकि परमागम में चित्त को केन्द्रित करने से नियमतः मंगल का फल उपलब्ध हो जाता है।[५६] अतः भगवती में जो मंगलवाक्य आये हैं वे प्रक्षिप्त होने चाहिए। जब यह धारणा चिन्तकों के मस्तिष्क में रूढ़ हो गई–ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में मंगलवाक्य होना चाहिये, तभी से मंगलवाक्य लिखे गये।[५७]

श्रद्धा की दृष्टि से जब भगवती की रचना हुई तभी से मंगलवाक्य है। मंगल बहुत ही प्रिय शब्द है। अनन्तकाल से प्राणी मंगल की अन्वेषणा कर रहा है। मंगल के लिए गगनचुम्बी पर्वतों की यात्राएँ कीं; विराट्काय समुद्र को लांघा; बीहड़ जंगलों को रौंद डाला; रक्त की नदियाँ बहाईं; अपार कष्ट सहन किए; पर मंगल नहीं मिला। कुछ समय के लिए किसी को मंगल समझ भी लिया गया, पर वस्तुतः वह मंगल सिद्ध नहीं हुआ। मंगल शब्द पर चिन्तन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने लिखा–जिससे हित की प्राप्ति हो, वह मंगल है अथवा जो मत्पदवाच्य आत्मा को संसार से अलग करता है–वह मंगल है।[५८] आचार्य मलधारी हेमचन्द्र का अभिमत है–जिससे आत्मा शोभायमान हो, वह मंगल है या जिससे आनन्द और हर्ष प्राप्त होता है, वह

मंगल है। यों भी कह सकते हैं कि जिसके द्वारा आत्मा पूज्य, विश्ववन्द्य होता है वह मंगल है।[५९] इस प्रकार इन व्युत्पत्तियों में लोकोत्तर मंगल की अद्वितीय महिमा प्रकट की गई है।

महामन्त्र : एक अनुचिन्तन

भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में मंगलवाक्य के रूप में "नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं" "नमो बंभीए लिवीए"–का प्रयोग हुआ है। नमोकार मन्त्र जैनों का एक सार्वभौम और सम्प्रदायातीत मन्त्र है। वैदिकपरम्परा में जो महत्त्व गायत्री मन्त्र को दिया गया है, बौद्धपरम्परा में जो महत्त्व "तिसरन" मन्त्र को दिया गया है, उससे भी अधिक महत्त्व जैनपरम्परा में इस महामन्त्र का है। इसकी शक्ति अमोघ है और प्रभाव अचिन्त्य है। इसकी साधना और आराधना से लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार की उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह महामन्त्र अनादि और शाश्वत है। सभी तीर्थंकर इस महामन्त्र को महत्त्व देते आये हैं। यह जिनागम का सार है। जैसे तिल का सार तेल है; दूध का सार घृत है; फूल का सार इत्र है; वैसे ही द्वादशांगी का सार नमोक्कार महामन्त्र है। इस महामन्त्र में समस्त श्रुतज्ञान का सार रहा हुआ है, क्योंकि पंच परमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य श्रुतज्ञान कुछ भी नहीं है। पंच परमेष्ठी अनादि होने के कारण यह महामन्त्र अनादि माना गया है। यह महामन्त्र कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न या कामधेनु के समान फल देने वाला है। यह सत्य है कि जितना हम इस महामन्त्र को मानते हैं उतना इस महामन्त्र के सम्बन्ध में जानते नहीं। मानने के साथ जानना भी आवश्यक है, जिससे इस महामन्त्र के जप में तेजस्विता आती है।

'मननात् मन्त्रः' मनन करने के कारण ही मन्त्र नाम पड़ा है। मन्त्र मनन करने को उत्प्रेरित करता है, वह चिन्तन को एकाग्र करता है, आध्यात्मिक ऊर्जा/शक्ति को बढ़ाता है। चिन्तन/मनन कभी अन्धविश्वास नहीं होता, उसके पीछे विवेक का आलोक जगमगाता है। उसका सबसे बड़ा कार्य है–अनादि काल की मूर्च्छा को तोड़ना; मोह को भंग कर मोहन के दर्शन करना। मन्त्र मूर्च्छा को नष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय है। मूर्च्छा ऐसा आध्यात्मिक रोग है, जो सहसा नष्ट नहीं होता; उसके लिए निरन्तर मन्त्र जप की आवश्यकता होती है। यह महामंत्र साधक के अन्तर्मानस में यह भावना पैदा करता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर से परे हूँ। वह भेदविज्ञान पैदा करता है। मन्त्र हृदय

की आँख है। मन्त्र वह शक्ति है–जो आसक्ति को नष्ट कर अनासक्ति पैदा करती है। नमस्कार महामन्त्र का उपयोग जो साधक आसक्ति के लिए करते हैं–वे लक्ष्यभ्रष्ट हैं। लक्ष्यभ्रष्ट तीर का कोई उपयोग नहीं होता, वैसे ही लक्ष्यभ्रष्ट मन्त्र का भी कोई उपयोग नहीं है।

मन्त्र छोटा होता है। वह ग्रन्थ की तरह बड़ा नहीं होता। हीरा छोटा होता है, चट्टान की तरह बड़ा नहीं होता; पर बड़ी-बड़ी चट्टानों को वह काट देता है। अंकुश छोटा होता है, किन्तु मदोन्मत्त गजराज को अधीन कर लेता है। बीज नन्हा होता है, पर वही बीज विराट् वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। वैसे ही नमोक्कार मन्त्र में जो अक्षर हैं–वे भी बीज की तरह हैं। नमोक्कार मन्त्र में ३५ अक्षर हैं। ३ में ५ जोड़ने पर ८ होते हैं। जैनदृष्टि से कर्म आठ हैं। इस महामन्त्र की साधना से आठों कर्मों की निर्जरा होती है। ३–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। ५–पंचमहाव्रत और पंचसमिति का प्रतीक है। जब नमोक्कार मंत्र के साथ रत्नत्रय व महाव्रत का सुमेल होता है या अष्ट प्रवचनमाता की साधना भी साथ चलती है तो उस साधना में अभिनव ज्योति पैदा हो जाती है। इस प्रकार यह महामन्त्र मन का त्राण करता है। अशुभ विचारों के प्रभाव से मन को मुक्त करता है।

नमोक्कार महामन्त्र हमारे प्रसुप्त चित्त को जाग्रत करता है। यह मंत्र शक्ति-जागरण का अग्रदूत है। इस मन्त्र के जप से इन्द्रियों की वल्गा हाथ में आ जाती है, जिससे सहज ही इन्द्रिय-निग्रह हो जाता है। मन्त्र एक ऐसी छैनी है जो विकारों की परतों को काटती है। जब विकार पूर्णरूप से कट जाते हैं तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। महामन्त्र की जप-साधना से साधक अन्तर्मुखी बनता है, पर जप की साधना विधिपूर्वक होनी चाहिये। विधिपूर्वक किया गया कार्य ही सफल होता है। डॉक्टर रुग्ण व्यक्ति का ऑपरेशन विधिपूर्वक नहीं करता है तो रुग्ण व्यक्ति के प्राण संकट में पड़ जाते हैं। बिना विधि के जड़ मशीनें भी नहीं चलतीं। सारा विज्ञान विधि पर ही अवलम्बित है। अविधिपूर्वक किया गया कार्य निष्फल होता है। यही स्थिति मन्त्र-जप की भी है।

नमोक्कार महामन्त्र में पाँच पद हैं। ३५ अक्षर हैं। इनमें ११ अक्षर लघु हैं, २४ गुरु हैं; १५ दीर्घ हैं और २० ह्रस्व हैं; ३५ स्वर हैं और ३४ व्यंजन हैं। यह एक अद्वितीय बीजसंयोजना है। 'नमो अरिहंताणं' में सात

अक्षर हैं, 'नमो सिद्धाणं' में पाँच अक्षर हैं, 'नमो आयरियाणं' में सात अक्षर हैं, 'नमो उवज्झायाणं' में सात अक्षर हैं और 'नमो लोए सव्वसाहूणं' में नौ अक्षर हैं– इस प्रकार इस महामन्त्र में कुल ३५ अक्षर हैं। स्वर और व्यंजन का विश्लेषण करने पर 'नमो अरिहंताणं' में ७ स्वर और ६ व्यंजन हैं, 'नमो सिद्धाणं' में ५ स्वर और ६ व्यंजन हैं, 'नमो आयरियाणं' में ७ स्वर और ६ व्यंजन हैं, 'नमो उवज्झायाणं' में ७ स्वर और ७ ही व्यंजन हैं तथा 'नमो लोए सव्वसाहूणं' में ९ स्वर तथा ९ व्यंजन हैं–इस प्रकार नमोक्कार महामन्त्र में ३५ स्वर और ३४ व्यंजन हैं। यह महामन्त्र जैन आराधना और साधना का केन्द्र है, इसकी शक्ति अपरिमेय है। इस महामन्त्र के वर्णों के संयोजन पर चिन्तन करें तो यह बड़ा अद्‌भुत और पूर्ण वैज्ञानिक है। इसके बीजाक्षरों को आधुनिक शब्दविज्ञान की कसौटी पर कसने पर यह पाते हैं कि इसमें विलक्षण ऊर्जा है और शक्ति का भण्डार छिपा हुआ है। प्रत्येक अक्षर का विशिष्ट अर्थ है, प्रयोजन है और ऊर्जा उत्पन्न करने की क्षमता है।

जैनधर्म में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच महान् आत्मा माने गये हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक गुणों का विकास किया। आध्यात्मिक उत्कर्ष में न वेष बाधक है और न लिंग ही। स्त्री हो या पुरुष हो, सभी अपना आध्यात्मिक उत्कर्ष कर सकते हैं। नमोक्कार महामन्त्र में अरिहन्तों को नमस्कार किया गया है, किन्तु तीर्थंकरों को नहीं। तीर्थंकर भी अरिहन्त हैं तथापि सभी अरिहन्त तीर्थंकर नहीं होते। अरिहन्तों के नमस्कार में तीर्थंकर स्वयं आ जाते हैं। पर तीर्थंकर को नमस्कार करने में सभी अरिहन्त नहीं आते। यहाँ पर तीर्थंकरत्व मुख्य नहीं है, मुख्य है–अर्हत्‌भाव। जैनधर्म की दृष्टि से तीर्थंकरत्व औदयिक प्रकृति है, वह एक कर्म के उदय का फल है किन्तु अरिहन्तदशा क्षायिक भाव है। वह कर्म का फल नहीं अपितु कर्मों की निर्जरा का फल है। तीर्थंकरों को भी जो नमस्कार किया जाता है, उसमें भी अर्हत्‌भाव ही मुख्य रहा हुआ है। इस प्रकार नमोक्कार महामन्त्र में व्यक्ति-विशेष को नहीं, किन्तु गुणों को नमस्कार किया गया है। व्यक्तिपूजा को नहीं किन्तु गुणपूजा को महत्त्व दिया गया है। यह कितनी विराट् और भव्य भावना है।

प्राचीन ग्रन्थों में नमोक्कार महामन्त्र को पंचपरमेष्ठीमन्त्र भी कहा है। 'परमे तिष्ठतीति' अर्थात् जो आत्माएं परमे–शुद्ध, पवित्र स्वरूप में, वीतराग

भाव में ष्ठी–रहते हैं–वे परमेष्ठी हैं। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने के कारण अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ही पंच परमेष्ठी हैं। यही कारण है कि भौतिक दृष्टि से चरम उत्कर्ष को प्राप्त करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् और देवेन्द्र भी इनके चरणों में झुकते हैं। त्याग के प्रतिनिधि–ये पंच परमेष्ठी हैं। पंच परमेष्ठी में सर्वप्रथम अरिहन्त हैं। जिन्होंने पूर्णरूप से सदा-सर्वदा के लिए राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है, वे अरिहन्त हैं; जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त शक्ति रूप वीर्य के धारक होते हैं, सम्पूर्ण विश्व के ज्ञाता/द्रष्टा होते हैं, जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, प्रभृति विरोधी द्वन्द्वों में सदा सम रहते हैं। तीर्थंकर और दूसरे अरिहन्तों में आत्मविकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है।

दूसरा पद सिद्ध का है। सिद्ध का अर्थ पूर्ण है। जो द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के कर्मों से अलिप्त होकर निराकुल आनन्दमय शुद्ध स्वभाव में परिणत हो गये, वे सिद्ध हैं। यह पूर्ण मुक्त दशा है। यहाँ पर न कर्म हैं, न कर्मबन्धन के कारण ही हैं। कर्म और कर्मबन्ध के अभाव के कारण आत्मा वहाँ से पुनः लौटकर नहीं आता। वह लोक के अग्रभाग में ही अवस्थित रहता है। वहाँ केवल विशुद्ध आत्मा ही आत्मा है, परद्रव्य और परपरिणति का पूर्ण अभाव है। यह विदेहमुक्त अवस्था है। यह आत्मविकास की अन्तिम कोटि है। दूसरे पद में उस परमविशुद्ध आत्मा को नमस्कार किया गया है।

तृतीय पद में आचार्य को नमस्कार किया गया है। आचार्य धर्मसंघ का नायक है। वह संघ का संचालनकर्त्ता है, साधकों के जीवन का निर्माणकर्त्ता है। जो साधक संयमसाधना से भटक जाते हैं, उन्हें आचार्य सही मार्गदर्शन देता है। योग्य प्रायश्चित्त देकर उसकी संशुद्धि करता है। वह दीपक की तरह स्वयं ज्योतिर्मान होता है और दूसरों को ज्योति प्रदान करता है।

चतुर्थ पद में उपाध्याय को नमस्कार किया गया है। उपाध्याय ज्ञान का अधिष्ठाता होता है। वह स्वयं ज्ञानाराधना करता है और साथ ही सभी को आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करता है। पापाचार से विरत होने के लिए ज्ञान की साधना अनिवार्य है। उपाध्याय ज्ञान की उपासना से संघ में अभिनव चेतना का संचार करता है।

पाँचवें पद में साधु को नमस्कार किया गया है। जो मोक्षमार्ग की साधना करता है, वह साधु है। साधु सर्वविरति-साधना पथ का पथिक है। वह परस्वभाव का परित्याग कर आत्मस्वभाव में रमण करता है। वह

अशुभोपयोग को छोड़कर शुभोपयोग और शुद्धोपयोग में रमण करता है। उसके जीवन के कण-कण में अहिंसा का आलोक जगमगाता रहता है; सत्य की सुगन्ध महकती रहती है। अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उदात्त भावनाएँ अंगड़ाइयाँ लेती रहती हैं। वह मन, वचन और काय से महाव्रतों का पालन करता है।

जैनधर्म में मूल तीन तत्त्व माने गए हैं-देव, गुरु और धर्म। तीनों ही तत्त्व नमोक्कार महामन्त्र में देखे जा सकते हैं। अरिहन्त जीवनमुक्त परमात्मा हैं तो सिद्ध विदेहमुक्त परमात्मा हैं। ये दोनों आत्मविकास की दृष्टि से पूर्णत्व को प्राप्त किए हुए हैं। इसलिए इनकी परिगणना देवतत्त्व की कोटि में की जाती है। आचार्य, उपाध्याय और साधु आत्मविकास की अपूर्ण अवस्था में हैं, पर उनका लक्ष्य निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ने का है। इसलिए वे गुरुतत्त्व की कोटि में हैं। पाँचों पदों में अहिंसा, सत्य, तप आदि भावों का प्राधान्य है। इसलिए वे धर्म की कोटि में हैं। इस तरह तीनों ही तत्त्व इस महामन्त्र में परिलक्षित होते हैं।

नमोक्कार महामन्त्र पर चिन्तन करते हुए प्राचीन आचार्यों ने एक अभिनव कल्पना की है और वह कल्पना है रंग की। रंग प्रकृति नटी की रहस्यपूर्ण प्रतिध्वनियाँ हैं, जो बहुत ही सार्थक हैं। रंगों की अपनी एक भाषा होती है। उसे हर व्यक्ति समझ नहीं सकता, किन्तु वे अपना प्रभाव दिखाते ही हैं। पाश्चात्य देशों में रंगविज्ञान के सम्बन्ध में गहराई से अन्वेषणा की जा रही है। आज रंगचिकित्सा एक स्वतंत्र चिकित्सा पद्धति के रूप में विकसित हो चुकी है। रंगविज्ञान का नमोक्कार मन्त्र के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। यदि हम उसे जानें तो उससे अधिक लाभान्वित हो सकते हैं। आचार्यों ने अरिहन्तों का रंग श्वेत, सिद्धों का रंग लाल, आचार्य का रंग पीला, उपाध्याय का रंग नीला तथा साधु का रंग काला बताया है।

हमारा सारा मूर्त्त संसार पौद्गलिक है। पुद्गल में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। वर्ण का हमारे शरीर, हमारे मन, आवेग और कषायों से अत्यधिक सम्बन्ध है। शारीरिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य, मन का स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य, आवेगों की वृद्धि और कमी-ये सभी इन रहस्यों पर आधृत हैं कि हमारा किन-किन रंगों के प्रति रुझान है तथा हम किन-किन रंगों से आकर्षित और विकर्षित होते हैं।

नीला रंग जब शरीर में कम होता है तब क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है। नीले रंग की पूर्ति होने पर क्रोध स्वतः ही कम हो जाता है। श्वेत रंग की कमी होने पर स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगता है। लाल रंग की न्यूनता से आलस्य और जड़ता बढ़ने लगती है। पीले रंग की कमी से ज्ञानतन्तु निष्क्रिय हो जाते हैं और जब ज्ञानतन्तु निष्क्रिय हो जाते हैं, तब समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता। काले रंग की कमी होने पर प्रतिरोध की शक्ति कम हो जाती है। रंगों के साथ मानव के शरीर का कितना गहन सम्बन्ध है, यह इससे स्पष्ट है।

'नमो अरिहंताणं' का ध्यान श्वेत वर्ण के साथ किया जाय। श्वेत वर्ण हमारी आन्तरिक शक्तियों को जाग्रत करने में सक्षम है। वह समूचे ज्ञान का संवाहक है। श्वेत वर्ण स्वास्थ्य का प्रतीक है। हमारे शरीर में रक्त की जो कोशिकाएँ हैं, वे मुख्य रूप से दो रंग की हैं-श्वेत रक्तकणिकाएँ (W. B. C.) और लाल रक्तकणिकाएँ (R. B. C.)। जब भी हमारे शरीर में इन रक्तकणिकाओं का संतुलन बिगड़ता है तो शरीर रुग्ण हो जाता है। 'नमो अरिहंताणं' का जाप करने से शरीर में श्वेत रंग की पूर्ति होती है।

'नमो सिद्धाणं' का बाल सूर्य जैसा लाल वर्ण है। हमारी आन्तरिक दृष्टि को लाल वर्ण जाग्रत करता है। पिट्यूटरी ग्लेण्डस् के अन्तःस्राव को लाल रंग नियन्त्रित करता है। इस रंग से शरीर में सक्रियता आती है। 'नमो सिद्धाणं' मन्त्र, लाल वर्ण और दर्शन केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करने से स्फूर्ति का संचार होता है।

'नमो आयरियाणं'-इसका रंग पीला है। यह रंग हमारे मन को सक्रिय बनाता है। शरीरशास्त्रियों का मानना है कि थायराइड ग्लेण्ड आवेगों पर नियन्त्रण करता है। इस ग्रन्थि का स्थान कंठ है। आचार्य के पीले रंग के साथ विशुद्धि केन्द्र पर 'नमो आयरियाणं' का ध्यान करने से पवित्रता की संवृद्धि होती है।

'नमो उवज्झायाणं' का रंग नीला है। शरीर में नीले रंग की पूर्ति इस पद के जप से होती है। यह रंग शान्तिदायक है, एकाग्रता पैदा करता है और कषायों को शान्त करता है। 'नमो उवज्झायाणं' के जप से आनन्द-केन्द्र सक्रिय होता है।

'नमो लोए सव्वसाहूणं' का रंग काला है। काला वर्ण अवशोषक है। शक्तिकेन्द्र पर इस पद का जप करने से शरीर में प्रतिरोध शक्ति बढ़ती है।

इस प्रकार वर्णों के साथ नमोक्कार महामन्त्र का जप करने का संकेत मन्त्रशास्त्र के ज्ञाता आचार्यों ने किया है। अन्य अनेक दृष्टियों से नमस्कार महामन्त्र के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। विस्तार भय से उस सम्बन्ध में हम उन सभी की चर्चा नहीं कर रहे हैं। जिज्ञासु तत्सम्बन्धी साहित्य का अवलोकन करें तो उन्हें चिन्तन की अभिनव सामग्री प्राप्त होगी और वे नमस्कार महामन्त्र के अद्भुत प्रभाव से प्रभावित होंगे।

नमस्कार महामन्त्र को आचार्य अभयदेव ने भगवती सूत्र का अंग मानकर व्याख्या की है। आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है–पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करनी चाहिए। यह पंच- नमस्कार सामायिक का एक अंग है।[६०] इससे यह स्पष्ट है कि नमस्कार महामन्त्र उतना ही पुराना है जितना सामायिक सूत्र। सामायिक आवश्यकसूत्र का प्रथम अध्ययन है। आचार्य देववाचक ने आगमों की सूची में आवश्यकसूत्र का उल्लेख किया है। सामायिक के प्रारम्भ में और उसके अन्त में नमस्कार मन्त्र का पाठ किया जाता था। कायोत्सर्ग के प्रारम्भ और अन्त में भी पंचनमस्कार का विधान है। निर्युक्ति के अभिमतानुसार नन्दी और अनुयोगद्वार को जानकर तथा पंचमंगल को नमस्कार कर सूत्र को प्रारम्भ किया जाता है।[६१] आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने पंचनमस्कार महामन्त्र को सर्वसूत्रान्तर्गत माना है।[६२] उनके अभिमतानुसार पंचनमस्कार करने के पश्चात् ही आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को सामायिक आदि श्रुत पढ़ाते थे।[६३] इस तरह नमस्कार महामन्त्र सर्वसूत्रान्तर्गत है। आवश्यकसूत्र गणधरकृत है तो व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) भी गणधरकृत ही है। इस दृष्टि से इस महामन्त्र के प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्र में आबद्ध करने वाले गणधर हैं। जिन आचार्यों ने महामन्त्र को अनादि कहा है, उसका यह अर्थ है–तत्त्व या अर्थ की दृष्टि से वह अनादि है।

ब्राह्मीलिपि

नमस्कार महामन्त्र के पश्चात् भगवती में 'नमो बंभीए लिवीए' पाठ है। भारत में जितनी लिपियाँ हैं, उन सब में ब्राह्मीलिपि सबसे प्राचीन है। वैदिक दृष्टि से ब्राह्मी शब्द ब्रह्मा से निष्पन्न है। त्रिदेवों में ब्रह्मा विश्व का स्रष्टा है। उसने सम्पूर्ण विश्व की रचना की। उसी से इस लिपि का प्रादुर्भाव हुआ। नारद स्मृति में लिखा है–यदि ब्रह्मा लिखित या लेखनकला अथवा लिपिरूप उत्तम नेत्र का सर्जन नहीं करते तो इस जगत् की शुभ गति नहीं होती।[६४]

ललितविस्तर बौद्धपरम्परा का संस्कृत भाषा में लिखित एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ में ६४ लिपियों का उल्लेख है। उनमें कितनी ही लिपियों का आधार देश-विशेष, प्रदेश-विशेष या जाति-विशेष कहा है। उन ६४ लिपियों में सर्वप्रथम ब्राह्मीलिपि का नाम आता है।[६५] उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में वहाँ पर चिन्तन नहीं किया गया है।

जैन दृष्टि से ब्राह्मीलिपि के सर्जक भगवान् ऋषभदेव थे। भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाओं की शिक्षा प्रदान की। द्वितीय पुत्र बाहुबली को प्राणीलक्षण का ज्ञान कराया। अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियों का और द्वितीय पुत्री सुन्दरी को गणित विद्या का परिज्ञान कराया। ब्राह्मी ने उन लिपियों को प्रसारित किया। १८ लिपियों में मुख्य लिपि ब्राह्मी के नाम से विश्रुत है।[६६] समवायाङ्ग[६७] में ब्राह्मीलिपि के ४६ मातृकाक्षर यानी मूल अक्षर बतलाये हैं और १८ प्रकार की लिपियों में प्रथम लिपि का नाम ब्राह्मीलिपि है। प्रज्ञापना[६८] में भी १८ लिपियों के नाम मिलते हैं पर समवायाङ्ग[६९] से कुछ पृथक्ता लिए हुए हैं।

वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों ही परम्पराओं में ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मत हैं। डॉ. अल्फ्रेड मूलर, जेम्स प्रिन्सेप तथा सेनार्ट आदि विद्वानों का अभिमत है कि ब्राह्मीलिपि का उद्गम-स्रोत यूनानी लिपि है। सेनार्ट ने इस सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया और यूनानियों के साथ भारतीयों का सम्पर्क हुआ। भारतीयों ने यूनानियों से लेखनकला सीखी और उसके आधार से उन्होंने ब्राह्मीलिपि की रचना की। उपर्युक्त मत का खण्डन बूलर और डिरिंजर नामक विद्वानों ने किया है। उनका मन्तव्य है कि लिपिकला भारत में पहले से ही विकसित थी। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति होती तो उसके पौत्र अशोक के समय वह लिपि इतनी अधिक कैसे विकसित हो सकती थी ?

फ्रेन्च विद्वान् कुपेटी ने ब्राह्मीलिपि के सम्बन्ध में एक विचित्र कल्पना की है। उनका अभिमत है कि ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति चीनी लिपि से हुई है। पर लिपिविज्ञान के विशेषज्ञों का यह स्पष्ट अभिमत है कि चीनी और ब्राह्मी लिपि में किसी भी प्रकार का मेल नहीं है। चीनी लिपि में वर्णात्मक और अक्षरात्मक ध्वनियाँ नहीं हैं; उसमें शब्दात्मक ध्वनियों के परिचय के लिए चित्रात्मक चिह्न हैं और वे चिह्न अत्यधिक मात्रा में हैं। जबकि ब्राह्मीलिपि में

चित्रात्मक चिह्न नहीं हैं;उसके चिह्न तो अक्षरात्मक ध्वनियों के अभिव्यंजक हैं। यह सत्य है कि चीनी लिपि भी प्राचीन है। लेकिन प्राचीन होने के कारण उसे ब्राह्मीलिपि के साथ जोड़ना संगत नहीं है।

बूलर का अभिमत है कि उत्तरी सेमेटिक लिपि से ब्राह्मी का उद्‌भव हुआ है। थोड़े बहुत मतभेद के साथ वेबर, बेनफे, वेस्टरगार्ड, ह्विटनी, जॉनसन, विलियम जॉन्स आदि ने भी यही विचार व्यक्त किए हैं। बूलर की दृष्टि से ईस्वी सन् के लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व सेमेटिक अक्षरों का भारत में प्रवेश हुआ।[७०] कितने ही विद्वानों का यह भी मानना है कि भारत में जब लेखनकला का विकास नहीं हुआ था तब फिनिशिया[७१] में शिक्षा और लेखन का विकास हो चुका था। भारत के व्यापारी जब व्यापार हेतु फिनिशिया जाते थे तब व्यापार की सुविधा हेतु उन्होंने फिनिशियन लिपि का अध्ययन किया और उन व्यापारियों के साथ ही फिनिशियन लिपि भारत में आई। उस लिपि का संशोधन और परिष्कार कर ब्राह्मणों ने एक लिपि का निर्माण किया। ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित होने के कारण उस लिपि का नाम ब्राह्मी हुआ।

डॉ. राजबली पाण्डेय ने एक अभिनव कल्पना की है। उनका अभिमत है कि भारत से कुछ व्यक्ति फिनिशिया गये। वे ब्राह्मीलिपि के जानकार थे। वे वहीं पर बस गए। वहाँ पर बसने के कारण ब्राह्मीलिपि वहाँ के वातावरण से प्रभावित हुई। यही कारण है कि फिनिशियन और ब्राह्मी दोनों ही लिपियों में डॉ. पाण्डेय ने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए ऋग्वेद की ६-५१, १४; ६१, १ ऋचाएँ प्रस्तुत की हैं। ब्राह्मीलिपि का ही विकास फिनिशियन लिपि है।

टेलर, सेथ आदि विज्ञों का अभिमत है कि ब्राह्मी का विकास दक्षिणी सेमेटिक लिपि से हुआ है। तो कितने ही विद्वान् दक्षिणी सेमेटिक शाखा अरबी लिपि से ब्राह्मीलिपि का उद्‌भव मानते हैं। पर गहराई से चिन्तन करने पर दक्षिणी सेमेटिक लिपि या उसकी शाखालिपियों से ब्राह्मी का मेल नहीं बैठता है। यदि यह कहा जाय कि अरबवासियों के साथ भारतवर्ष का सम्पर्क अतीत काल से था, इस कारण अरबी से ब्राह्मी की उत्पत्ति हुई, किन्तु इस कथन और तर्क में वजन नहीं है।

डॉ. राइस डेविड्स का अभिमत है कि एक ऐसी लिपि पहले प्रचलित थी जो सेमेटिक अक्षरों के उद्‌भव के पूर्व ही यूफ्रेटिस नदी की घाटी में विकसित सभ्यता में प्रचलित थी। उस पुरानी लिपि से ब्राह्मीलिपि का सीधा

सम्बन्ध है। वह लिपि सेमेटिक लिपि को भी जन्म देने वाली है। विद्वानों का ऐसा मन्तव्य है कि इस सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन की आवश्यकता है।

एडवर्ड थामस, गोल्ड स्टूकर, राजेन्द्रलाल मित्र, लास्सेन, डासन, कनिंघम आदि विज्ञों का मानना है कि ब्राह्मीलिपि का उद्‌भवस्थल भारत ही है। पर इनका यह मानना है कि अतीत काल में आर्यभाषी जनता द्वारा किसी चित्रलिपि का प्रयोग किया जाता होगा। सम्भव है, उसी से ब्राह्मीलिपि का जन्म हुआ है। बूलर ने इस मन्तव्य का विरोध करते हुए कहा–भारत में चित्रलिपि नहीं थी फिर उससे ब्राह्मी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ?

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी का मन्तव्य है कि भारत की जो लिपियाँ अभी तक पढ़ी जा सकी हैं, उनमें ब्राह्मीलिपि सबसे प्राचीन है। यही भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित प्राचीनतम लिपि है।[३२] अधुनातन अन्वेषणा से यह निष्कर्ष प्रकट हो चुका है कि ब्राह्मी भारत की लिपि है। लिपिविद्याविशारद डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के शब्दों में–ब्राह्मीलिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिलती है और उसका किसी बाहरी स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता। इस लिपि के आद्य निर्माता ऋषभदेव रहे हैं। इस कारण भगवती में ब्राह्मीलिपि को नमस्कार कर भगवान् ऋषभदेव को और अक्षरश्रुत को नमस्कार किया गया है। अक्षरश्रुत के रूप में ज्ञान को नमस्कार किया गया है। पञ्च ज्ञानों में श्रुत ज्ञान ही सबसे अधिक व्यवहार-योग्य एवं उपकारक है। इसीलिए 'नमो बंभीए लिवीए' के द्वारा भावश्रुत को नमस्कार किया गया है।

प्रस्तुत आगम में तीसरा नमस्कार 'नमो सुयस्स' के रूप में श्रुत को किया गया है। मतिज्ञान के पश्चात् शब्दसंस्पर्शी जो परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। दूसरे शब्दों में श्रुतज्ञान का अर्थ है–वह ज्ञान जिसका शास्त्र से सम्बन्ध हो। आप्तपुरुष द्वारा रचित आगम व अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है–वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद हैं। अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के १२ भेद हैं।[३३] श्रुत वस्तुतः ज्ञानात्मक है। ज्ञानोत्पत्ति के साधन होने के कारण उपचार से शास्त्रों को भी श्रुत कहा गया है। श्रुत ही भावतीर्थ है। द्वादशांगी के सहारे ही भव्यजीव संसार-सागर से पार उतरते हैं। इसलिए श्रुत को नमस्कार किया गया है। इस नमस्कार से श्रुत की महत्ता प्रदर्शित की गई है। साधकों के अन्तर्मानस में श्रुत के प्रति गहरी निष्ठा उत्पन्न की गई है, जिससे वे श्रुत का सम्मान करें और श्रुत को एकाग्रता से श्रवण करें।

गणधर गौतम : एक परिचय

भगवतीसूत्र का प्रारम्भ गणधर गौतम की जिज्ञासा से होता है। गौतम जिज्ञासा हैं तो महावीर समाधान हैं। उपनिषत्कालीन उद्दालक के समक्ष जो स्थान श्वेतकेतु का है, गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण के समक्ष जो स्थान अर्जुन का है, तथागत बुद्ध के समक्ष जो स्थान आनन्द का है; वही स्थान भगवान् महावीर के समक्ष गणधर गौतम का है।

भगवती के प्रारम्भ में सर्वप्रथम बहुत ही संक्षेप में भगवान् महावीर के अन्तरंग जीवन का परिचय दिया गया है। उसके पश्चात् गणधर गौतम की अन्तरंग और बाह्य छवि चित्रित की गई है। गौतम जितने बड़े तत्त्वज्ञानी थे उतने ही बड़े साधक भी थे। श्रुत और शील की पवित्र धारा से उनकी आत्मा सम्पूर्ण रूप से परिप्लावित हो रही थी। एक ओर वे उग्र और घोर तपस्वी थे तो दूसरी ओर समस्त श्रुत के अधिकृत ज्ञाता भी थे।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि किसी भी व्यक्ति का अन्तरंग दर्शन करने से पहले दर्शक पर उसके बाह्य व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। प्रथम दर्शन में ही व्यक्ति उसके तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाता है। यदि व्यक्ति के चेहरे पर ओज है, आकृति से सौन्दर्य छलक रहा है, आँखों में अद्भुत तेज चमक रहा है और मुख पर मधुर मुस्कान अठखेलियाँ कर रही है तो आन्तरिक व्यक्तित्व में सौन्दर्य का अभाव होने पर भी बाह्य सौन्दर्य से दर्शक प्रभावित हो जाता है। यदि बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक सौन्दर्य भी हो तो सोने में सुगन्ध की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। यही कारण है कि विश्व में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनका बाह्य व्यक्तित्व प्रायः आकर्षक और लुभावना रहा है और साथ ही आन्तरिक जीवन तो बाह्य व्यक्तित्व से भी अधिक चित्ताकर्षक रहा है। औपपातिक सूत्र में भगवान् महावीर के बाह्य व्यक्तित्व का प्रभावोत्पादक चित्रण है[७४] तो बुद्धचरित्र में महाकवि अश्वघोष ने बुद्ध के लुभावने शरीर का वर्णन किया है कि उस तेजस्वी मनोहर रूप को जिसने भी देखा, उसकी ही आँखें उसी में बंध गईं।[७५] उसे निहार कर राजगृह की लक्ष्मी भी संक्षुब्ध हो गई।[७६] जिन व्यक्तियों में पुण्य की प्रबलता होती है, उनमें शारीरिक सुन्दरता होती है।[७७] गणधर गौतम का शरीर भी बहुत सुन्दर था। जहाँ वे सात हाथ ऊँचे कद्दावर थे, वहाँ उनके शरीर का

आन्तरिक गठन भी बहुत ही सुदृढ़ था। वे वज्र-ऋषभ-नाराच-संहननी थे। सुन्दर शारीरिक गठन के साथ ही उनके मुख, नयन, ललाट आदि पर अद्‌भुत ओज और चमक थी। जैसे कसौटी पत्थर पर सोने की रेखा खींच देने से वह उस पर चमकती रहती है, वैसे ही सुनहरी आभा गौतम के मुख पर दमकती रहती थी। उनका वर्ण गौर था। कमल-केसर की भांति उनमें गुलाबी मोहकता भी थी। जब उनके ललाट पर सूर्य की चमचमाती किरणें गिरतीं तो ऐसा प्रतीत होता कि कोई शीशा या पारदर्शी पत्थर चमक रहा है। वे जब चलते तो उनकी दृष्टि सामने के मार्ग पर टिकी होती। वे स्थिर दृष्टि से भूमि को देखते हुए चलते। उनकी गति शान्त, चंचलता रहित और असंभ्रान्त थी जिसे निहार कर दर्शक उनकी स्थितप्रज्ञता का अनुमान लगा सकता था। वे सर्वोत्कृष्ट तपस्वी थे, पूर्ण स्वावलम्बी और ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे। उनके लिए घोर तपस्वी के साथ '**घोरबंभचेरवासी**' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए वे विशिष्ट साधक थे। उन्हें तपोजन्य अनेक लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी थीं। वे चौदह पूर्वी व मनःपर्यव ज्ञानी थे। साथ ही वे बहुत ही सरल और विनम्र थे। उनमें ज्ञान का अहंकार नहीं था और न अपने पद और साधना के प्रति मन में अहं था। वे सच्चे जिज्ञासु थे। गौतम की मनःस्थिति को जताने वाली एक शब्दावली प्रस्तुत आगम में अनेक बार आई है–'**जायसड्ढे, जायसंसए, जायकोउहल्ले**'। उनके अन्तर्मानस में किसी भी तथ्य को जानने की श्रद्धा, इच्छा पैदा हुई, संशय हुआ, कौतूहल हुआ और वे भगवान् की ओर आगे बढ़े। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि गौतम की वृत्ति में मूल घटक वे ही तत्त्व थे–जो सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति में मूल घटक रहे हैं।

विश्व में यूनानी दर्शन, पश्चिमी दर्शन और भारतीय दर्शन–ये तीन मुख्य दर्शन माने जाते हैं। यूनानी दर्शन का प्रवर्तक ओरिस्टोटल है। उसका मन्तव्य है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से हुआ है।[७८] यही बात प्लेटो ने भी मानी है। पश्चिम के प्रमुख दार्शनिक डेकार्ट, काण्ट, हेगल आदि ने दर्शन का उद्‌भावक तत्त्व संशय माना है।[७९] भारतीय दर्शन का जन्म जिज्ञासा से हुआ है। यहाँ प्रत्येक दर्शन का प्रारम्भ जिज्ञासा से है,[८०] चाहे वैशेषिक हो, चाहे सांख्य हो, चाहे मीमांसक हो। उपनिषदों में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनके मूल में जिज्ञासा तत्त्व मुखरित हो रहा है। छान्दोग्योपनिषद्[८१] में नारद सनत्कुमार के पास जाकर यह प्रार्थना करता है कि मुझे सिखाइये–आत्मा क्या है? कठोपनिषद् में बालक नचिकेता यम से कहता है–जिसके विषय में सभी

मानव विचिकित्सा कर रहे हैं, वह तत्त्व क्या है? यम भौतिक प्रलोभन देकर उसे टालने का प्रयास करते हैं पर बालक नचिकेता दृढ़ता के साथ कहता है–मुझे धन-वैभव कुछ भी नहीं चाहिये। आप तो मेरे प्रश्न का समाधान कीजिए। मुझे वही इष्ट है।[८२] श्रमण भगवान् महावीर ने साधना के कठोर कण्टकाकीर्ण महामार्ग पर जो मुस्तैदी से कदम बढ़ाए, उसमें भी आत्म-जिज्ञासा ही मुख्य थी। आचारांग के प्रारम्भ में आत्म-जिज्ञासा का ही स्वर झंकृत हो रहा है। साधक सोचता है–मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और यहाँ से कहाँ जाऊँगा? तथागत बुद्ध ने तो साधनामार्ग में प्रवेश करते ही यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि जब तक मैं जन्म-मरण के किनारे का पता नहीं लगा लूँगा, तब तक कपिलवस्तु में प्रवेश नहीं करूँगा।

इस तरह आश्चर्य, जिज्ञासा, संशय, कौतूहल ये सभी मानव को दर्शन की ओर उत्प्रेरित करते रहे हैं। सुदूर अतीत-काल से लेकर वर्तमान तक 'इंटलेक्चुअल क्यूरियॉसिटी' (Intellectual Curiosity), बौद्धिक कौतूहल के कारण ही मानव की ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति हुई है।

गणधर गौतम के अन्तर्मानस में बौद्धिक कौतूहल तीव्रतम रूप से दिखलाई देता है। वे आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत्, कर्म प्रभृति विषयों में ही नहीं, सामान्य से सामान्य विषय व प्रसंग को देखकर भी उसके सम्बन्ध में जानने के लिए ललक उठते हैं। उस विषय के तलछट तक पहुँचने के लिए उनके मन में कौतूहल होता है। वे अनन्त-श्रद्धा, संशय और कुतूहल से प्रेरित होकर स्वस्थान से चल कर जहाँ भगवान् महावीर विराजित होते हैं, वहाँ पहुँचते हैं, विनयपूर्वक जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं–**'कहमेयं भंते'**–हे भगवान् ! यह बात कैसे है? कभी-कभी तो वे विषय को और अधिक स्पष्ट कराने के लिए प्रतिप्रश्न करते हैं–**'केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ'**–ऐसा आप किस हेतु से कहते हैं? वे हेतु तक जाकर तर्क की दृष्टि से उसका समाधान पाना चाहते हैं। इस प्रकार प्रतिप्रश्न करते हुए तथा कुतूहल को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, वे बालक की तरह संकोच-रहित होकर प्रश्न करते हैं। उनकी प्रश्न-शैली तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक है।

विज्ञान में 'कथम्' (How), 'कस्मात्' 'केन' (Why) इन दो सूत्रों को पकड़ कर वस्तुस्थिति के अन्तस्तल में प्रवेश किया जाता है और निरीक्षण-परीक्षण कर रहस्यों को उद्घाटित किया जाता है। गणधर गौतम भी प्रायः इन दो वाक्यों के आधार पर अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं पर

उनकी जिज्ञासा की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे केवल प्रश्न के लिए प्रश्न नहीं करते वरन् समाधान के लिए प्रश्न करते हैं। उनकी जिज्ञासा में सत्य की बुभुक्षा है। उनके संशय में समाधान की गूंज है। उनके कुतूहल में विश्व-वैचित्र्य को समझने की छटपटाहट है। उनकी सच्ची जिज्ञासु वृत्ति को देखकर ही भगवान् महावीर प्रत्येक प्रश्न का समाधान करते हैं और समाधान पाकर गणधर गौतम कृतकृत्य हो जाते हैं तथा विनयपूर्वक नम्र शब्दों में निवेदन करते हैं-**सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! तहमेयं भन्ते !** अर्थात् हे प्रभो ! जैसा आपने कहा है-वह पूर्ण सत्य है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ। महावीर के उत्तर पर श्रद्धा से अभिभूत होकर उन्होंने जो अनुगूँज की है, वस्तुतः यह प्रश्नोत्तर की आदर्श पद्धति है। उत्तरदाता के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धा का भाव व्यक्त किया गया है, जो बहुत ही आवश्यक है। इसमें प्रश्नकर्त्ता के समाधान की स्वीकृति भी है और हृदय की अनन्त श्रद्धा भी।

विषय वर्णन की दृष्टि से भगवतीसूत्र में विविध विषयों का संकलन है। उन सभी विषयों पर प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि भगवतीसूत्र अपने आप में स्वयं एक विराट् आगम है। इसमें गणधर गौतम के तथा अन्यान्य साधकों के हजारों प्रश्न और समाधान हैं। तथापि विषय वर्णन की दृष्टि से संक्षेप में निम्न खण्डों में इसकी विषयवस्तु को विभक्त कर सकते हैं-

प्रथम साधना खण्ड में हम उन सभी प्रसंगों को ले सकते हैं जो साधना से सम्बन्धित हैं। साधना का प्रारम्भ होता है-सत्संग से। सर्वप्रथम व्यक्ति सन्त के पास पहुँचता है। सन्त के पास पहुँचने से उसको उपदेश सुनने को मिलता है। उपदेश सुनकर उसे सम्यग्ज्ञान समुत्पन्न होता है। सम्यग्ज्ञान समुत्पन्न होने पर वह जड़ और चेतन के स्वरूप को समझकर भेदविज्ञान से यह समझता है कि जड़ तत्त्व पृथक् है और चेतन तत्त्व पृथक् है। दोनों तत्त्व पय-पानीवत् मिल चुके हैं। भेदविज्ञान से वह दोनों की पृथक् सत्ता को समझता है और उनको पृथक्-पृथक् करने के लिये प्रत्याख्यान स्वीकार करता है। संयम की साधना करता है, जिससे वह आने वाले आश्रव का निरुन्धन कर लेता है और जो अन्दर विजातीय तत्त्व रहा हुआ है उसे धीरे-धीरे तपश्चरण द्वारा नष्ट करने से मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का निरुन्धन कर वह आत्मा सिद्धि को वरण करता है।[४१] यह है सत्संग की महिमा और गरिमा। सत्, आत्मा है। उसका संग ही वस्तुतः सत्संग है। अनन्त काल से

आत्मा पर-संग में उलझा रहा। जब आत्मा पर-संग से मुक्त होता है और स्व-संग करता है, तभी वह मुक्त बनता है। मुक्ति का अर्थ है पर-संग से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाना। इस तथ्य को शास्त्रकार ने बहुत ही सरल रूप से प्रस्तुत किया।

सत्संग करने वाला साधक ही धर्म मार्ग को स्वीकार करता है। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की कि केवलज्ञानी से या उनके उपासकों से बिना सुने जीव को वास्तविक धर्म का परिज्ञान होता है? समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा–गौतम ! किसी जीव को होता है और किसी को नहीं होता। यही बात सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के सम्बन्ध में भी कही गई है।[८४] प्रश्नोतरों से यह स्पष्ट है कि धर्म और मुक्ति का आधार आन्तरिक विशुद्धि है। जब तक आन्तरिक विशुद्धि नहीं होती तब तक मुक्ति सम्भव नहीं है। जिनका मानस सम्प्रदायवाद से ग्रसित है, उनके लिये प्रस्तुत वर्णन चिन्तन की दिव्य ज्योति प्रदान करेगा।

ज्ञान और क्रिया

जैनधर्म ने न अकेले ज्ञान को महत्त्व दिया है और न अकेली क्रिया को। साधना की परिपूर्णता के लिये ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय आवश्यक है। गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि सुव्रत और कुव्रत में क्या अन्तर है? समाधान देते हुए भगवान् महावीर ने कहा–जो साधक व्रत ग्रहण कर रहा है उसे यदि यह परिज्ञान नहीं है कि यह जीव है या अजीव है? त्रस है या स्थावर है? उसके व्रत सुव्रत नहीं हैं। क्योंकि जब तक परिज्ञान नहीं होगा तब तक वह व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं कर सकेगा। परिज्ञानवान् व्यक्ति का व्रत ही सुव्रत है। वही पूर्ण रूप से व्रत का आराधन कर सकता है।[८५]

गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि कितने ही चिन्तकों का यह अभिमत है कि शील श्रेष्ठ है तो किन्हीं चिन्तकों का कथन है कि श्रुत श्रेष्ठ है। तो तृतीय प्रकार के चिन्तक शील और श्रुत दोनों को श्रेष्ठ मानते हैं। आपका इस सम्बन्ध में क्या अभिमत है?

भगवान् महावीर ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा–इस विराट् विश्व में चार प्रकार के पुरुष हैं–

१. जो शीलसम्पन्न हैं पर श्रुतसम्पन्न नहीं, वे पुरुष धर्म के मर्म को नहीं जानते, अतः अंश से आराधक हैं।

२. श्रुतसम्पन्न हैं पर शीलसम्पन्न नहीं, वे पुरुष पाप से निवृत्त नहीं हैं पर धर्म को जानते हैं, इसलिये वे अंश से विराधक हैं।

३. कितने ही शीलसम्पन्न हैं और श्रुतसम्पन्न भी हैं, वे पाप से पूर्ण रूप से बचते हैं, इसलिये वे पूर्ण रूप से आराधक हैं।

४. जो न शीलसम्पन्न हैं और न श्रुतसम्पन्न हैं, वे पूर्ण रूप से विराधक हैं।

प्रस्तुत संवाद में भी भगवान् महावीर ने उस साधक के जीवन को श्रेष्ठ बतलाया है जिसके जीवन में ज्ञान का दिव्य आलोक जगमगा रहा हो और साथ ही ज्ञान के अनुरूप जो उत्कृष्ट चारित्र की भी आराधना करता हो। भगवान् महावीर के युग में अनेक दार्शनिक ज्ञान को ही महत्त्व दे रहे थे। उनका यह अभिमत था कि ज्ञान से ही मुक्ति होती है। आचरण की कोई आवश्यकता नहीं। कुछ दार्शनिकों का यह वज्राघोष था कि मुक्ति के लिये ज्ञान की नहीं, चारित्रपालन की आवश्यकता है। मिश्री की मधुरता का परिज्ञान न होने पर भी उसकी मिठास का अनुभव मिश्री को मुँह में डालने पर होता ही है। यह नहीं होता कि मिश्री के विशेषज्ञ को मिश्री का मिठास अधिक अनुभव होता हो। इसलिये "**आचारः प्रथमो धर्मः**" है। पर भगवान् महावीर ने कहा कि अनन्त आकाश में उड़ान भरने के लिये पक्षी की दोनों पांखें सशक्त चाहिये, वैसे ही साधना की परिपूर्णता के लिये श्रुत और शील दोनों की आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने आराधना तीन प्रकार की बताई हैं–ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना। जहाँ तीनों में उत्कृष्टता आ जाती है, वह साधक उसी भव में मुक्ति को प्राप्त होता है। एक में भी अपूर्णता होती है तो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान में हो जाती है। ज्ञान की परिपूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है और चारित्र की परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थान में। जब तीनों परिपूर्ण होते हैं तब आत्मा मुक्त बनता है।[८९]

■

कर्मबन्ध और क्रिया

भारतीय दर्शन में बन्ध के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन हुआ है। बन्धन ही दुःख है। समग्र आध्यात्मिक चिन्तन बन्धन से मुक्त होने के लिये है। बन्धन की वास्तविकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। जैनदृष्टि से बन्धन विजातीय तत्त्व के सम्बन्ध से होता है। जड़ द्रव्यों में एक पुद्गल नामक द्रव्य है। पुद्गल के अनेक प्रकार हैं, उनमें कर्मवर्गणा या कर्मपरमाणु एक सूक्ष्म भौतिक द्रव्य है। इस सूक्ष्म भौतिक कर्मद्रव्य से आत्मा का सम्बन्धित होना बन्धन है। बन्धन आत्मा का अनात्मा से, जड़ का चेतन से, देह का देही से संयोग है।

आचार्य उमास्वाति[८७] के शब्दों में कहा जाय तो कषायभाव के कारण जीव का कर्मपुद्गल से आक्रान्त हो जाना बन्ध है। आचार्य देवेन्द्रसूरि ने लिखा है कि आत्मा जिस शक्ति-विशेष से कर्मपरमाणुओं को आकर्षित कर उन्हें आठ प्रकार के कर्मों के रूप में जीवप्रदेशों से सम्बन्धित करता है तथा कर्मपरमाणु और आत्मा परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, वह बन्धन है।[८८]

जैनदृष्टि से बन्ध का कारण आस्रव है। आस्रव का अर्थ है कर्मवर्गणाओं का आत्मा में आना। आत्मा की विकारी मनोदशा भावास्रव कहलाती है और कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आने की प्रक्रिया को द्रव्यास्रव कहा गया है। भावास्रव कारण है और द्रव्यास्रव कार्य है। द्रव्यास्रव का कारण भावास्रव है और द्रव्यास्रव से कर्मबन्धन होता है। मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ ही आस्रव हैं।[८९] मानसिक वृत्ति के साथ शारीरिक और वाचिक क्रियाएं भी चलती हैं। उन क्रियाओं के कारण कर्मास्रव भी होता रहता है। जिन व्यक्तियों का अन्तर्मानस कषाय से कलुषित नहीं है, जिन्होंने कषाय को उपशान्त या क्षीण कर दिया है, उनकी क्रिया के द्वारा जो आस्रव होता है, वह ईर्यापथिक आस्रव कहलाता है। चलते समय मार्ग की धूल के कण वस्त्र पर लगते हैं और दूसरे क्षण वे धूलकण विलग हो जाते हैं। वही स्थिति कषायरहित क्रियाओं से होती है। प्रथम क्षण में आस्रव होता है तो द्वितीय क्षण में वह निर्जीर्ण हो जाता है। भगवतीसूत्र के तृतीय शतक के तृतीय उद्देशक में भगवान् महावीर ने अपने छठे गणधर मण्डितपुत्र की जिज्ञासा

पर क्रिया के पाँच प्रकार बताये और उन क्रियाओं से बचने का सन्देश भगवान् महावीर ने दिया। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि सक्रिय जीव की मुक्ति नहीं है। मुक्ति प्राप्त करने वाले साधक को निष्क्रिय बनना होगा। जब तक शरीर है तब तक कर्मबन्धन है। अतः सूक्ष्म शरीर से छूट जाना निष्क्रिय बनना है।

भगवतीसूत्र शतक सातवें, उद्देशक प्रथम में यह स्पष्ट कहा है कि जिन व्यक्तियों में कषाय की प्रधानता है, उनको साम्परायिक्र क्रिया लगती है और जिनमें कषाय का अभाव है उनको ईर्यापथिक क्रिया लगती है। एक बार भगवान् महावीर गुणशीलक उद्यान में अपने स्थविर शिष्यों के साथ अवस्थित थे। उस उद्यान के सन्निकट ही कुछ अन्य तीर्थिक रहे हुए थे। उन्होंने उन स्थविरों से कहा कि तुम असंयमी हो, अविरत हो, पापी हो और बाल हो, क्योंकि तुम इधर-उधर परिभ्रमण करते रहते हो, जिससे पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना होती है। उन स्थविरों ने उनको समझाते हुए कहा कि हम बिना प्रयोजन इधर-उधर नहीं घूमते हैं और यतनापूर्वक चलने के कारण हिंसा नहीं करते, इसीलिये हमारी हलन-चलन आदि क्रिया कर्मबन्धन का कारण नहीं है। पर आप लोग बिना उपयोग के चलते हैं अतः वह कर्मबन्धन का कारण है और असंयम वृद्धि का भी कारण है।[१०]

शतक अठारहवें, उद्देशक आठवें में एक मधुर प्रसंग है– गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि एक संयमी श्रमण अच्छी तरह से ३$^1/_2$ हाथ जमीन देख कर चल रहा है। उस समय एक क्षुद्र प्राणी अचानक पाँव के नीचे आ जाता है और उस श्रमण के पैर से मर जाता है। उस श्रमण को ईर्यापथिक क्रिया लगती है या साम्परायिक क्रिया?

भगवान् ने समाधान दिया कि उसको ईर्यापथिक क्रिया ही लगती है, साम्परायिक क्रिया नहीं; क्योंकि उसमें कषाय का अभाव है। इस प्रकार बन्ध और कर्मबन्ध होने की कारण चेष्टा रूप जो क्रिया है, उस सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों के द्वारा मूल आगम में प्रकाश डाला गया है, जो ज्ञानवर्द्धक और विवेक को उद्‌बुद्ध करने वाला है।

निर्जरा

भारतीय चिन्तन में जहाँ बन्ध के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है, वहाँ आत्मा से कर्मवर्गणाओं को पृथक् करने के सम्बन्ध में भी चिन्तन है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में आत्मा से कर्मवर्गणाओं का पृथक् हो जाना या उन

कर्मपुद्गलों को पृथक् कर देना निर्जरा है। निर्जरा शब्द का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड़ देना। निर्जरा के दो प्रकार हैं—१. भावनिर्जरा और २. द्रव्य-निर्जरा। आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था जिसके कारण कर्मपरमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, वह भावनिर्जरा है। यही कर्मपरमाणुओं का आत्मा से पृथक्करण द्रव्यनिर्जरा है। भावनिर्जरा कारणरूप है और द्रव्यनिर्जरा कार्यरूप है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी तथ्य को रूपक की भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—आत्मा सरोवर है, कर्म पानी है। कर्म का आस्रव पानी का आगमन है। उस पानी के आगमन के द्वारों को अवरुद्ध कर देना संवर है और पानी को उलीचना और सुखाना निर्जरा है।

प्रकारान्तर से निर्जरा के सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा, ये दो प्रकार हैं। जिसमें कर्म जितनी कालमर्यादा के साथ बंधा हुआ है, उसके समाप्त हो जाने पर अपना विपाक यानी फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाता है, वह अकामनिर्जरा है। इस अकामनिर्जरा को यथाकाल निर्जरा, सविपाक निर्जरा और अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। विपाक-अवधि के आने पर कर्म अपना फल देकर स्वाभाविक रूप से पृथक् हो जाते हैं, इसमें कर्म को पृथक् करने के लिये प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। इस निर्जरा का महत्त्व साधना की दृष्टि से नहीं है। क्योंकि कर्मों का बन्ध और इस निर्जरा का क्रम प्रतिपल-प्रतिक्षण चलता रहता है। जब तक नूतन कर्मों का बन्धम अवरुद्ध नहीं होता तब तक सापेक्ष रूप से इस निर्जरा से लाभ नहीं होता। जिस प्रकार एक व्यक्ति पुराने ऋण को चुकाता तो रहता है पर नवीन ऋण भी ग्रहण करता रहता है तो वह व्यक्ति ऋण से मुक्त नहीं होता। अकामनिर्जरा अनादि काल से करने के बावजूद भी आत्मा मुक्त नहीं हो सका। भव-परम्परा को समाप्त करने के लिये सकामनिर्जरा की आवश्यकता है।

सकामनिर्जरा वह है, जिसमें तप आदि की साधना के द्वारा कर्मों की कालस्थिति परिपक्व होने के पहले ही प्रदेशोदय के द्वारा उन्हें भोगकर बलात् पृथक् कर दिया जाता है। इसमें विपाकोदय या फलोदय नहीं होता। केवल प्रदेशोदय ही होता है। विपाकोदय और प्रदेशोदय के अन्तर को समझाने के लिये डॉ. सागरमल जैन ने एक उदाहरण दिया है—"जब क्लोरोफार्म सुंघाकर किसी व्यक्ति की चीर-फाड़ की जाती है तो उसमें उसे असातावेदनीय (दुखानुभूति) नामक कर्म का प्रदेशोदय होता है, लेकिन विपाकोदय नहीं होता है। उसमें दुःखद वेदना के तथ्य तो उपस्थित होते हैं,

लेकिन दुःखद वेदना की अनुभूति नहीं है। इसी प्रकार प्रदेशोदय में कर्म के फल का तथ्य तो उपस्थित हो जाता है, किन्तु उसकी फलानुभूति नहीं होती।[९१] इसलिये यह निर्जरा अविपाक निर्जरा या सकाम निर्जरा कहलाती है। इस निर्जरा में कर्मपरमाणुओं को आत्मा से पृथक् करने के लिये संकल्प होता है। इसमें प्रयासपूर्वक कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा से पृथक् किया जाता है। 'इसिभासियं' ग्रन्थ में लिखा है कि संसारी आत्मा प्रतिपल-प्रतिक्षण अभिनव कर्मों का बन्ध और पुराने कर्मों की निर्जरा कर रहा है। पर तप के द्वारा होने वाली निर्जरा का विशेष महत्त्व है।[९२]

भगवतीसूत्र (शतक १६, उद्देशक ४) में सकामनिर्जरा के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाला एक सुन्दर प्रसंग है। गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि एक नित्यभोजी श्रमण साधना के द्वारा जितने कर्मों को नष्ट करता है, उतने कर्म एक नैरयिक जीव सौ वर्ष में अपार वेदना सहन कर नष्ट कर सकता है ?

समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—नहीं।

पुनः गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि एक उपवास करने वाला श्रमण जितने कर्मों को नष्ट करता है, उतने कर्म एक हजार वर्ष तक असह्य वेदना सहन कर नरक का जीव नष्ट कर सकता है ?

भगवान् ने समाधान दिया—नहीं।

गौतम ने पुनः पूछा—भगवन् ! आप किस दृष्टि से ऐसा कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—जैसे एक वृद्ध, जिसका शरीर जर्जरित हो चुका है, जिसके दांत गिर चुके हैं, जो अनेक दिनों से भूखा है, वह वृद्ध परशु लेकर एक विराट् वृक्ष को काटना चाहता है और इसके लिये वह मुँह से जोर का शब्द भी करता है, तथापि वह उस वृक्ष को काट नहीं पाता। वैसे ही नैरयिक जीव तीव्र कर्मों को भयंकर वेदना सहन करने पर भी नष्ट नहीं कर पाता। पर जैसे उस विराट् वृक्ष को एक युवक देखते-देखते काट देता है, वैसे ही श्रमण निर्ग्रन्थ सकामनिर्जरा से कर्मों को शीघ्र नष्ट कर देते हैं। इसी तथ्य को भगवतीसूत्र के शतक ६, उद्देशक १ में स्पष्ट किया है कि नैरयिक जीव महावेदना का अनुभव करने पर भी महानिर्जरा नहीं कर पाता जबकि श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पवेदना का अनुभव करके भी महानिर्जरा करता है। जैसे मजदूर अधिक श्रम करने पर भी कम अर्थलाभ प्राप्त करता है और कारीगर कम श्रम करके अधिक अर्थलाभ प्राप्त करता है।

सन्त जीवन की महिमा और प्रकार

जैन साहित्य में सन्त की महिमा और गरिमा का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। सन्त का जीवन एक अनूठा जीवन होता है। वह संसार में रहकर भी संसार के विषय-विकारों से अलिप्त रहता है। अलिप्त रहने से उसके जीवन में सुख का सागर लहराता रहता है। गणधर गौतम के अन्तर्मानस में यह जिज्ञासा उद्‌बुद्ध हुई कि श्रमण के जीवन में सुख की मात्रा कितनी है ? देवगण परम सुखी कहलाते हैं तो क्या श्रमण का सुख देवताओं के सुख से कम है या ज्यादा ? उन्होंने अपनी जिज्ञासा भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत की। महावीर ने गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—तराजू के एक पलड़े में जिस श्रमण की दीक्षापर्याय एक मास की हुई हो, उसके जीवन में जो सुख है उसको रखा जाये और दूसरे पलड़े में वाणव्यन्तर देवों के सुख को रखा जाये तो वाणव्यन्तर की अपेक्षा उस श्रमण के सुख का पलड़ा भारी रहेगा। इसी प्रकार दो मास के श्रमण के सुख के सामने भवनवासी देवों का सुख नगण्य है। इस तरह बारह मास की दीक्षापर्याय वाले श्रमण को जो सुख है, वह सुख अनुत्तरौपपातिक देवों को भी नहीं है। आध्यात्मिक सुख के सामने भौतिक सुख कितना तुच्छ है, यह स्पष्ट किया गया है। अनुत्तर विमानवासी देवों का सुख भी, जो श्रमण आत्मस्थ हैं, उनके सामने नगण्य है।[१३]

भगवतीसूत्र में श्रमण निर्ग्रन्थों के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया है। गौतम ने जिज्ञासा प्रकट की कि भगवन् ! निर्ग्रन्थ कितने प्रकार के हैं ?

भगवान् ने निर्ग्रन्थों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक—ये पांच प्रकार बताये और प्रत्येक के पांच-पांच अन्य प्रकार भी बताये हैं।[१४] गौतम ने यह भी जिज्ञासा प्रस्तुत की कि संयमी के कितने प्रकार है? भगवान् ने सामायिक संयत, छेदोपस्थापनीय संयत, परिहारविशुद्ध संयत, सूक्ष्मसम्पराय संयत और यथाख्यात संयत, ये पांच प्रकार बताये और उनके भी भेदोपभेदों का कथन किया है।[१५]

श्रमण केवल वेशपरिवर्तन करने से ही नहीं होता। उसके जीवन में आगमोक्त सद्‌गुणों का प्राधान्य होना चाहिये। श्रमण के जीवन में जिन गुणों की अपेक्षा है उसकी चर्चा भगवतीसूत्र, शतक १, उद्देशक ९ में इस प्रकार की है—श्रमण को नम्र होना चाहिये। उसकी इच्छायें अल्प हों, पदार्थों के प्रति

मूर्च्छा का अभाव हो, अनासक्त हो और अप्रतिबद्धविहारी हो। श्रमण को क्रोधादि कषायों से भी मुक्त रहना चाहिये। जो श्रमण राग-द्वेष से मुक्त होता है, वही श्रमण परिनिर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक १ में संवृत और असंवृत अनगार के चर्चा के प्रसंग में यह बताया है कि असंवृत अनगार जो राग-द्वेष से ग्रसित है, वह तीव्र कर्म का बन्धन करता है और संसार में परिभ्रमण करता है और संवृत अनगार जो राग-द्वेष से मुक्त है, वही सम्पूर्ण दुःखों का अन्त करता है। इससे स्पष्ट है कि श्रमण जीवन का लक्ष्य कषाय से मुक्त होना है। इस प्रकार विविध प्रसंग श्रमण-जीवन की महत्ता को उजागर करते हैं।

श्रमण अनगार होता है। वह अपना जीवन निर्दोष भिक्षा ग्रहण कर यापन करता है। उसकी भिक्षा एक विशुद्ध भिक्षा है। भगवतीसूत्र में भिक्षा के सम्बन्ध में यत्र-तत्र चर्चा है। उस युग में जनमानस में यह प्रश्न उद्‌बुद्ध हो रहा था कि श्रमणों या ब्राह्मणों को भिक्षा देने से पाप होता है या पुण्य होता है या निर्जरा होती है ? गणधर गौतम ने जनमानस में पनपती हुई यह शंका भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत की कि उत्तम श्रमण या ब्राह्मण का निर्जीव और दोषरहित अन्न-पानी आदि के द्वारा एक श्रमणोपासक सत्कार करता है तो उसे क्या प्राप्त होता है ?

भगवान् महावीर ने कहा—श्रमणोपासक अन्न-पानी आदि से श्रमण और ब्राह्मण को समाधि उत्पन्न करता है, इसलिये वह समाधि प्राप्त करता है। वह जीवननिर्वाह योग्य वस्तु प्रदान कर दुर्लभ सम्यक्त्वरत्न की विशुद्धि को प्राप्त करता है। वह निर्जरा करता है, पर पापकर्म नहीं करता।

श्रमण बहुत ही जागरूक होता है। भिक्षा ग्रहण करते समय और भिक्षा का उपयोग करते समय उसकी जागरूकता सतत बनी रहती है। आगम साहित्य में यत्र-तत्र भिक्षा सम्बन्धी दोष बताये गये हैं और आहार ग्रहण करने के दोष भी प्रतिपादित हैं। भगवतीसूत्र शतक ७ के प्रथम उद्देशक में प्रस्तुत प्रसंग इस प्रकार आया है—गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवन् ! अंगारदोष, धूमदोष, संयोजनदोष प्रभृति से आहार किस प्रकार दूषित होता है ?

समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—कोई श्रमण निर्ग्रन्थ निर्दोष, प्रासुक आहार को बहुत ही मूर्च्छित, लुब्ध और आसक्त बन कर

खाता है, वह अंगारदोष सहित आहार कहलाता है। आहार करते समय अन्तर्मानस में क्रोध की आग सुलग रही हो तो वह आहार धूमदोष सहित कहलाता है और स्वाद उत्पन्न करने के लिए एक दूसरे पदार्थ का संयोजन किया जाये, वह संयोजनादोष है। श्रमण क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त और प्रमाणातिक्रान्त आहार आदि ग्रहण न करे पर नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करे।[९६] श्रमण का आहार संयम साधना की अभिवृद्धि के लिए होता है। आहार के सम्बन्ध में भगवती में अनेक स्थलों पर चिन्तन प्रस्तुत किया है।[९७] दशवैकालिक,[९८] पिण्डनिर्युक्ति[९९] प्रभृति आगम ग्रन्थों में भी भिक्षाचर्या पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

पाप : एक चिन्तन

भारतीय मनीषियों ने पाप के सम्बन्ध में भी अपना स्पष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया है। पाप की परिभाषा करते हुए लिखा है, जो आत्मा को बन्धन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है।[१००] उत्तराध्ययनचूर्णि[१०१] में लिखा है–जो आत्मा को बांधता है वह पाप है। स्थानांगटीका[१०२] में आचार्य अभयदेव ने लिखा है–जो नीचे गिराता है, वह पाप है; जो आत्मा के आनन्दरस का क्षय करता है, वह पाप है। जिस विचार और आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति होती हो, वह पाप है। भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक ८ में पाप के विषय में चिन्तन करते हुए लिखा है कि एक शिकारी अपनी आजीविका चलाने के लिए हरिण का शिकार करने हेतु जंगल में खड्डे खोदता है और उसमें जाल बिछाता हो, उस शिकारी को किस प्रकार की क्रिया लगती है ?

भगवान् ने कहा कि वह शिकारी जाल को थामे हुए है पर जाल में मृग को फँसाता नहीं है, बाण से उसे मारता नहीं है, उस शिकारी को कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी ये तीन कियाएँ लगती हैं। जब वह मृग को बांधता है पर मारता नहीं है तब उसे इन तीन क्रियाओं के अतिरिक्त एक परितापनिकी चतुर्थ क्रिया भी लगती है और जब वह मृग को मार देता है तो उपर्युक्त चार क्रियाओं के अतिरिक्त उसे पांचवीं प्राणातिपातिकी क्रिया भी लगती है।

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ६ में गणधर गौतम ने प्रश्न किया कि एक व्यक्ति आकाश में बाण फेंकता है, वह बाण आकाश में अनेक प्राणियों

के, भूतों के, जीवों के और सत्वों के प्राणों का अपहरण करता है। उस व्यक्ति को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

भगवान् महावीर ने कहा–उस व्यक्ति को पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक १० में कालोदायी ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि दो व्यक्तियों में से एक अग्नि को जलाता है और दूसरा अग्नि को बुझाता है। दोनों में से अधिक पाप कौन करता है ?

भगवान् ने समाधान दिया कि जो अग्नि को प्रज्वलित करता है, वह अधिक कर्मयुक्त, अधिक क्रियायुक्त, अधिक आस्रवयुक्त और अधिक वेदनायुक्त कर्मों का बन्धन करता है। उसकी अपेक्षा बुझाने वाला व्यक्ति कम पाप करता है। अग्नि प्रज्वलित करने वाला पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक सभी प्रकार के जीवों की हिंसा करता है, जबकि बुझाने वाला उससे कम हिंसा करता है।

भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक ६ में गणधर गौतम ने पूछा–एक श्रमण भिक्षा के लिए गृहस्थ के यहाँ गया। वहाँ पर उसे कुछ दोष लग गया। वह श्रमण सोचने लगा कि मैं स्थान पर पहुँच कर स्थविर मुनियों के पास आलोचना करूँगा और विधिवत् प्रायश्चित्त लूँगा। वह स्थविरों की सेवा में पहुँचा। पर उसके पूर्व ही स्थविर रुग्ण हो गये तथा उनकी वाणी बन्द हो गई। वह श्रमण प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं कर सका तो वह आराधक है या विराधक?

भगवान् ने कहा–वह आराधक है, क्योंकि उसके मन में पाप की आलोचना करने की भावना थी। यदि वह श्रमण स्वयं भी मूक हो जाता, पाप को प्रकट नहीं कर पाता तो भी वह आराधक था। क्योंकि उसके अन्तर्मानस में आलोचना कर पाप से मुक्त होने की भावना थी। पाप का सम्बन्ध भावना पर अधिक अवलम्बित है।

इस प्रकार भगवती में विविध प्रश्न पाप से निवृत्त होने के सम्बन्ध में पूछे गये। उन सभी प्रश्नों का सटीक समाधान भगवान् महावीर ने प्रदान किया है। पाप की उत्पत्ति मुख्य रूप से राग-द्वेष और मोह के कारण होती है। जितनी-जितनी उनकी प्रधानता होगी, उतना-उतना पाप का अनुबन्धन तीव्र और तीव्रतर होगा। जैन-धर्म में पाप के प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान आदि अठारह प्रकार बताये हैं।

बौद्धधर्म में कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर पाप या अकुशल कर्म के दस प्रकार प्रतिपादित हैं।[१०३]

(१) कायिक पाप–१. प्राणातिपात (हिंसा), २. अदत्तादान (चोरी), ३. कामेसुमिच्छाचार (कामभोग सम्बन्धी दुराचार)।

(२) वाचिक पाप–४. मुसावाद (असत्य भाषण), ५. पिसुना वाचा (पिशुन वचन), ६. फरुसा वाचा (कठोर वचन), ७. सम्फलाप (व्यर्थ आलाप)।

(३) मानसिक पाप–८. अभिज्जा (लोभ), ९. व्यापाद (मानसिक हिंसा या अहित चिन्तन), १०. मिच्छादिट्ठी (मिथ्यादृष्टि)।

अभिधम्मत्थसंगहो[१०४] नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी चौहह अकुशल चैतसिक पापों का निरूपण हुआ है। वे इस प्रकार हैं–

१. मोहमूढ़ता, २. अहिरीक (निर्लज्जता), ३. अनोतप्पं–अभीरुता (पापकर्म में भय न मानना) ४. उद्धच्चं–उद्धतपन (चंचलता), ५. लोभो (तृष्णा), ६. दिट्ठी–मिथ्यादृष्टि, ७. मानो–अहंकार ८. दोसो–द्वेष, ९. इस्सा–ईर्ष्या, १०. मच्छरियं–मात्सर्य्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), ११. कुक्कुच्च–कौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चात्ताप), १२. थीनं, १३. मिद्धं, १४. विचिकिच्छा–विचिकित्सा (संशय)।

इसी प्रकार वैदिकपरम्परा के ग्रन्थ मनुस्मृति[१०५] में भी पापाचरण के दस प्रकार प्रतिपादित हैं–

(क) कायिक–१. हिंसा, २. चोरी, ३. व्यभिचार,

(ख) वाचिक–४. मिथ्या (असत्य), ५. ताना मारना, ६. कटुवचन, ७. असंगत वाणी,

(ग) मानसिक–८. परद्रव्य की अभिलाषा, ९. अहितचिन्तन, १०. व्यर्थ आग्रह।

इस प्रकार सभी मनीषियों ने पाप से मुक्त होने का संदेश दिया है।

आध्यात्मिक शक्ति

आज का मानव भौतिक विज्ञान की शक्ति से न्यूनाधिक रूप में भलीभाँति परिचित है। विज्ञान की शक्ति से मानव आकाश में पक्षी की भाँति उड़ान भर रहा है, मछली की भाँति अनन्त जलराशि पर तैर रहा है और

द्रुत गति से भूमि पर दौड़ रहा है। टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो आदि के आविष्कार से विश्व सिमट गया है। अणु बम, न्यूट्रोन बम और विविध प्रकार की गैसों के आविष्कार से विश्व को विज्ञान ने विनाश की भूमिका पर भी पहुँचा दिया है। पर अतीत काल में भौतिक अनुसन्धान का अभाव था। उस समय आध्यात्मिक साधना के द्वारा उन साधकों ने वह अपूर्व शक्ति अर्जित की थी जिससे वे किसी के अन्तर्मानस के विचारों को जान सकते थे, विविध रूपों का सृजन कर सकते थे। जंघाचारण, विद्याचारण लब्धियों से अनन्त आकाश को कुछ ही क्षणों में नाप लेते थे। भगवतीसूत्र में इस प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियों को उजागर करने वाले अनेक प्रसंग आये हैं।

भगवतीसूत्र शतक ३, उद्देशक ५ में एक प्रसंग है–गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा कि एक श्रमण विराट्काय स्त्री का रूप बना सकता है? यदि बना सकता है तो कितनी स्त्रियों का रूप बना सकता है?

भगवान् ने कहा–वैक्रियलब्धिधारी श्रमण में इतना अधिक सामर्थ्य है कि वह सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को स्त्रियों के रूपों से भर सकता है, पर निर्माण करने की शक्ति होने पर भी वह इस प्रकार का निर्माण नहीं करता।

भगवतीसूत्र शतक ३, उद्देशक ४ में गौतम ने पूछा–वैक्रियशक्ति का प्रयोग प्रमत्त श्रमण करता है या अप्रमत्त श्रमण करता है ?

भगवान् महावीर ने कहा–वैक्रियलब्धि का प्रयोग प्रमत्त श्रमण करता है, अप्रमत्त श्रमण नहीं करता।

शतक ७, उद्देशक ९ में यह भी बताया है कि प्रमत्त श्रमण ही विविध प्रकार के विविध रंग के रूप बना सकता है। वह चाहे जिस रूप में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में परिवर्तन कर सकता है।

भगवतीसूत्र शतक २०, उद्देशक ९ में गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् ने कहा–आकाश में गमन करने की शक्ति चारणलब्धि में रही हुई है। वह चारणलब्धि जंघाचारण और विद्याचारण के रूप में दो प्रकार की है। विद्याचारणलब्धि निरन्तर बेले की तपस्या से और पूर्व नामक विद्या से प्राप्त होती है। इस लब्धि से मुनि तीन बार चुटकी बजाने जितने समय में तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन परिधि वाले जम्बूद्वीप की तीन बार प्रदक्षिणा कर लेता है। जंघाचारणलब्धि तीन-तीन उपवास की निरन्तर

साधना करने पर प्राप्त होती है और इस लब्धि की शक्ति से तीन बार चुटकी बजाये इतने समय में इक्कीस बार जम्बूद्वीप की प्रदक्षिणा कर लेता है। इस द्रुत गति के सामने आधुनिक युग के राकेट की गति भी कितनी कम है!

इसी तरह अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान के द्वारा अन्तर्मानस में रहे हुए विचारों को साधक किस प्रकार जानता है? शतक ३, उद्देशक ४ तथा शतक १४, उद्देशक १०, शतक ५, उद्देशक ४ आदि में इस विषय का विस्तार से निरूपण है। आध्यात्मिक शक्ति जब जाग जाती है तब हस्तामलकवत् चाहे रूपी पदार्थ हो या अरूपी पदार्थ हो, उसे वह सहज ही जान लेता है। उससे कोई भी वस्तु छिपी नहीं रह पाती।

भगवतीसूत्र शतक १५ में तेजोलब्धि का भी निरूपण है। तेजोलब्धि वह लब्धि है, जिससे साढ़े सोलह देश भस्म किये जा सकते थे। वह शक्ति आधुनिक उद्जन बम की तरह थी। भौतिक शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति अधिक प्रबल होती है, यह प्रस्तुत प्रसंगों से स्पष्ट है। जैन परम्परा की तरह बौद्ध और वैदिक परम्परा में भी तपोजन्य लब्धियों का उल्लेख हुआ है।

योगदर्शन में आचार्य पतञ्जलि ने योग का प्रभाव प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि योगी को अणिमा, महिमा, लघिमा प्रभृति आठ महाविभूतियाँ प्राप्त होती हैं। इससे योगी अणु को विराट् और विराट् को अणु बना सकता है। जिसे जैन परम्परा में लब्धि कहा है उसे ही योगदर्शन में विभूतियाँ कहा है। आगमकार ने यह सूचित किया है कि लब्धि होना अलग चीज है और उसका प्रयोग करना अलग चीज है। लब्धि सहज होती है पर लब्धि का प्रयोग प्रमत्त दशा में ही होता है। छठे गुणस्थान तक ही साधक लब्धि का प्रयोग करता है। अप्रमत्त साधक लब्धि का प्रयोग नहीं करता है। लब्धिप्रयोग प्रमत्त भाव है। प्रमाद कर्मबन्धन का कारण है। इसीलिए भगवती के बीसवें शतक, नौवें उद्देशक में स्पष्ट कहा है–जो साधक लब्धि का प्रयोग कर प्रमादसेवना कर पुनः उसकी आलोचना नहीं करता है; अनालोचना की दशा में ही काल प्राप्त कर जाता है तो वह धर्म की आराधना से च्युत हो जाता है। **"नत्थि तस्स आराहणा"** अर्थात् वह विराधक हो जाता है।

यहाँ यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि लब्धिप्रयोग प्रमाद क्यों है? उत्तर है कि उसमें उत्सुकता, कुतूहल, प्रदर्शन, यश और प्रतिष्ठा की भावना

रहती है। लब्धिप्रयोग करने वाले के अन्तर्मानस में कभी यह विचार पनपता है कि जनमानस पर मेरा प्रभाव गिरे। कभी-कभी वह क्रोध के कारण दूसरे व्यक्ति का अनिष्ट करने के लिए लब्धि का प्रयोग करता है, इसलिये उसमें प्रमाद रहा हुआ है। जैनसाधना में चमत्कार को नहीं, सदाचार को महत्त्व दिया है। जिस प्रकार भगवान् महावीर ने लब्धिप्रयोग का निषेध किया वैसे ही तथागत बुद्ध ने भी चमत्कारप्रदर्शन को ठीक नहीं माना। संयुक्तनिकाय में भिक्षु मौद्गल्यायन का वर्णन है जो लब्धिधारी और ऋद्धिबल सम्पन्न था[१०६]। समय-समय पर वह चमत्कारप्रदर्शन भी करता था। अतः बुद्ध समय-समय पर चमत्कारप्रदर्शन का निषेध करते रहे।

प्रत्याख्यान : एक चिन्तन

इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान आवश्यक है। प्रत्याख्यान का अर्थ है प्रवृत्ति को मर्यादित और सीमित करना।[१०७] आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में लिखा है कि अप्रमत्त भाव को जगाने के लिए जो मर्यादापूर्वक संकल्प किया जाता है, वह प्रत्याख्यान है।[१०८] साधक आत्मशुद्धि हेतु यथाशक्ति प्रतिदिन कुछ न कुछ त्याग करता है। त्याग करने से उसके जीवन में अनासक्ति की भव्य भावना अंगड़ाइयाँ लेने लगती है और तृष्णा मंद से मंदतर होती चली जाती है। प्रत्याख्यान के भी दो प्रकार हैं—१. द्रव्यप्रत्याख्यान और २. भावप्रत्याख्यान। द्रव्यप्रत्याख्यान में आहार, वस्त्र प्रभृति पदार्थों को छोड़ना होता है और भावप्रत्याख्यान में राग-द्वेष, कषाय प्रभृति अशुभ वृत्तियों का परित्याग करना होता है।

आवश्यकनिर्युक्ति[१०९] में आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है—प्रत्याख्यान से आस्रव का निरुन्धन होता है और आस्रव-निरुन्धन से तृष्णा का क्षय होता है। जैन दृष्टि से असद्-आचरण नहीं करने वाला व्यक्ति भी जब तक प्रतिज्ञा नहीं लेता है तब तक वह उस असदाचरण से मुक्त नहीं हो पाता। परिस्थितिवश वह असदाचरण नहीं करता पर असदाचरण न करने की प्रतिज्ञा के अभाव में वह परिस्थितियश असदाचरण कर सकता है। जब तक प्रतिज्ञा नहीं करता तब तक वह असदाचरण के दोष से मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्याख्यान में असदाचरण से निवृत्त होने के लिए दृढ़-संकल्प की आवश्यकता है।

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक २ में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है।

प्रायश्चित्त : एक चिन्तन

साधक प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहता है किन्तु जागरूक रहने पर भी और न चाहते हुए भी कभी-कभी प्रमाद आदि के कारण स्खलनाएँ हो जाती हैं। दोष लगना उतना बुरा नहीं है, जितना बुरा है दोष को दोष न समझना और उसकी शुद्धि के लिए प्रस्तुत न होना। जो दोष लग जाते हैं, उन दोषों की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त में सर्वप्रथम आलोचना है। जो भी स्खलना हो, उस स्खलना को बालक की तरह गुरु के समक्ष सरलता के साथ प्रस्तुत कर देना आलोचना है। भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक ७ में इस सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण किया गया है, सर्वप्रथम गणधर गौतम ने पूछा कि भगवन् ! किन कारणों से साधना में स्खलनाएँ होती हैं?

भगवान् महावीर ने समाधान देते हुए कहा कि दस कारणों से साधना में स्खलनाएँ होती हैं। वे इस प्रकार हैं–१. दर्प (अहंकार से) २. प्रमाद से ३. अनाभोग (अज्ञान से) ४. आतुरता ५. आपत्ति से ६. संकीर्णता ७. सहसाकार (आकस्मिक क्रिया से) ८. भय से ९. प्रद्वेष (क्रोध आदि कषाय से) १०. विमर्श (शैक्षिक आदि की परीक्षा करने से)। इन दस कारणों से स्खलना होती है। स्खलना होने पर उन स्खलनाओं के परिष्कार के लिए साधक गुरु के समक्ष पहुँचता है पर दोष को प्रकट करते समय उन दोषों को इस प्रकार प्रकट करना जिससे गुरुजन मुझे कम प्रायश्चित्त दें, यह दोष है। आलोचना के दस दोष प्रस्तुत आगम में हैं तथा अन्य स्थलों पर भी उन दस दोषों का निरूपण हुआ है। वे दोष इस प्रकार हैं–१. गुरु को यदि मैंने प्रसन्न कर लिया तो वे मुझे कम प्रायश्चित्त देंगे अतः उनकी सेवा कर उनके अन्तर्मानस को प्रसन्न कर फिर आलोचना करना। २. बहुत अल्प अपराध को बताना जिससे कि कम प्रायश्चित्त मिले। ३. जो अपराध आचार्य आदि ने देखा हो उसी की आलोचना करना। ४. केवल बड़े अतिचारों की ही आलोचना करना। ५. केवल सूक्ष्म दोषों की ही आलोचना करना जिससे कि आचार्य को यह आत्मविश्वास हो जाये कि यह इतनी सूक्ष्म बातों की आलोचना कर रहा है तो स्थूल दोषों की तो की ही होगी। ६. इस प्रकार आलोचना करना जिससे कि आचार्य सुन न सके। ७. दूसरों को सुनाने के लिये जोर-जोर से आलोचना करना। ८. एक ही दोष की पुनः-पुनः आलोचना करना। ९. जिनके सामने आलोचना की जाय वह अगीतार्थ हों।

१०. उस दोष की आलोचना की जाय जिस दोष का सेवन उस आचार्य ने कर रखा हो—ये दस आलोचना के दोष हैं।

आलोचना करने वाले के दस गुण भी बताए गये हैं तथा जिस आचार्य या गुरु के सामने आलोचना करनी हो उनके आठ गुण भी आगम में प्रतिपादित हैं। वर्तमान युग में आलोचना शब्द अन्य अर्थ में व्यवहृत है—किसी की नुक्ता-चीनी करना, टीका-टिप्पणी करना या किसी के गुण-दोष की चर्चा करना। पर प्रस्तुत आगम में जो शब्द आया है, वह दूसरों के गुण-दोषों के सम्बन्ध में नहीं है पर आत्मनिन्दा के अर्थ में है। आत्मनिन्दा करना सरल नहीं, कठिन और कठिनतर है। परनिन्दा करना, दूसरे के दोषों को निहारना सरल है। आत्म-आलोचना वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें सरलता हो, किसी भी प्रकार का छिपाव न हो, जिसका जीवन खुली पुस्तक की तरह हो। व्यक्ति पाप करके भी यह सोचता है कि मैं पाप को स्वीकार करूँगा तो मेरी कीर्ति, मेरा यश, मेरी प्रतिष्ठा धूमिल हो जायेगी। वह पाप करके भी पाप को छिपाना चाहता है। जिसे स्वास्थ्य की चिन्ता है, वह पहले से ही सावधान रहता है। यदि रोग हो गया है, उसके बाद यह सोचे कि मैं डॉक्टर के पास जाऊँगा और लोगों को यह पता चल जायेगा कि मैं रोगी हूँ। इस प्रकार विचार कर वह अपना रोग छिपाता है तो वह व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीवन में पवित्रता तभी रहेगी जब दोष को प्रकट कर उसका यथोचित प्रायश्चित्त किया जाय। आलोचना करने से साधक माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप तीन शल्यों को अन्तर्मानस से निकाल दूर कर देता है। कांटा निकलने से हृदय में सुखानुभूति होती है, वैसे ही पाप को प्रकट करने से भी जीवन निःशल्य बन जाता है। जो साधक पाप करके भी आलोचना नहीं करता है, उसकी सारी आध्यात्मिक क्रियाएँ बेकार हो जाती हैं। कोई साधक यह सोचे कि मुझे तो सभी शास्त्रों का परिज्ञान है अतः मुझे किसी के पास जाकर आलोचना करने की क्या आवश्यकता है? पर यह सोचना ठीक नहीं है। जिस प्रकार निपुण वैद्य भी अपनी चिकित्सा दूसरों से करवाता है, दूसरे वैद्य के कथनानुसार कार्य करता है, वैसे ही आचार्य को भी यदि दोष लग जाता है तो दोष की विशुद्धि दूसरों की साक्षी से ही करनी चाहिये। इस प्रकार करने से हृदय की सरलता प्रकट होती है और दूसरों को भी सरल और विशुद्ध बनाया जा सकता है।

आलोचना किसके पास करनी चाहिये? इस प्रश्न का समाधन व्यवहारसूत्र में मिलता है। सर्वप्रथम आलोचना आचार्य और उपाध्याय के समक्ष करनी चाहिये। उनके अभाव में साम्भोगिक बहुश्रुत श्रमण के पास करनी चाहिये। उनके अभाव में समान रूप वाले बहुश्रुत साधु के पास। उनके अभाव में जिसने पूर्व में संयम पाला हो और जिसे प्रायश्चित्तविधि का ज्ञान हो उस पडिवाई (संयमच्युत) श्रावक के पास। उसका भी अभाव होने पर जिनभक्त यक्ष आदि के पास। इनमें से सभी का अभाव हो तो ग्राम या नगर के बाहर पूर्व-उत्तर दिशा में मुँह कर विनीत मुद्रा में अपने अपराधों और दोषों का स्पष्ट उच्चारण करना चाहिए और अरिहन्त-सिद्ध की साक्षी से स्वतः ही शुद्ध हो जाना चाहिये।[११०]

■

तप : एक विश्लेषण

तप भारतीय साधना का प्राणतत्त्व है। जैसे शरीर में ऊष्मा जीवन के अस्तित्व का द्योतक है वैसे ही साधना में तप उसके दिव्य अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है। तप के बिना न निग्रह होता है, न अभिग्रह होता है। तप दमन नहीं, शमन है। तप केवल आहार का ही त्याग नहीं, वासना का भी त्याग है, तप अन्तर्मानस में पनपते हुए विकारों को जला कर भस्म कर देता है और साथ ही अन्तर्मानस में रहे हुए सघन अन्धकार को भी नष्ट कर देता है। इसलिये तप ज्वाला भी है और ज्योति भी है। तप जीवन को सौम्य, सात्त्विक और सर्वांगपूर्ण बनाता है। तप की साधना से आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त होती है। तप ऐसा कल्पवृक्ष है जिसकी निर्मल छत्रछाया में साधना के अमृतफल प्राप्त होते हैं। तप से जीवन ओजस्वी, तेजस्वी और प्रभावशाली बनता है। तप के सम्बन्ध में भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक ७ में निरूपण है। वहाँ पर तप के दो मुख्य प्रकार बताये हैं—१. बाह्य तप और २. आभ्यन्तर तप। बाह्य तप के छह प्रकार बताये हैं और आभ्यन्तर तप के भी छह प्रकार हैं। जो तप बाहर दिखलाई दे, वह बाह्य तप है। बाह्य तप में देह या इन्द्रियों का निग्रह किया जाता है। बाह्य तप में बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रहती है जबकि आभ्यन्तर तप में अन्तःकरण के व्यापारों की प्रधानता होती है। यह जो वर्गीकरण है वह तप की प्रक्रिया और स्थिति को समझाने के लिए किया गया है। तप का प्रारम्भ होता है बाह्य तप से और उसकी पूर्णता होती है आभ्यन्तर तप से। तप का एक छोर बाह्य है और दूसरा छोर आभ्यन्तर है। आभ्यन्तर तप के बिना बाह्य तप में पूर्णता नहीं आती। बाह्य तप से जब साधक का अन्तर्मन और तन उत्तप्त हो जाता है तो अन्तर् में रही हुई मलिनता को नष्ट करने के लिए साधक प्रस्तुत होता है। और वह अन्तर्मुखी बनकर आभ्यन्तर साधना में लीन हो जाता है। बाह्य तप के प्रकार निम्नानुसार हैं—

१. अनशन—बाह्य तप में इसका प्रथम स्थान है। यह तप अधिक कठोर और दुर्धर्ष है। भूख पर विजय प्राप्त करना अनशन तप का मूल उद्देश्य है। अनशन तप में भूख को जीतना और मन का निग्रह करना आवश्यक है। अनशन से तन की ही नहीं, मन की भी शुद्धि होती है। अनशन केवल

देहदण्ड ही नहीं अपितु आध्यात्मिक गुणों की उपलब्धि का महान् उद्देश्य भी उसमें सन्निहित है। भगवद्गीता[१११] में भी लिखा है कि आहार का परित्याग करने से इन्द्रियों के विषय-विकार दूर हो जाते हैं और मन भी पवित्र हो जाता है। महर्षि ने मैत्रायणी आरण्यक में लिखा है कि अनशन से बड़ा कोई तप नहीं है। साधारण मानव के लिए यह तप बड़ा ही दुर्धर्ष है। उसे सहन और वहन करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है।[११२]

अनशन तप के भी दो प्रकार हैं। एक इत्वरिक और दूसरा यावत्कालिक। इत्वरिक तप में एक निश्चित समयावधि होती है। एक दिन से लगाकर छह मास तक का यह तप होता है। दूसरा प्रकार यावत्कालिक तप जीवन पर्यन्त के लिए किया जाता है। यावत्कालिक अनशन के पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान–ये दो भेद हैं। भक्तप्रत्याख्यान में आहार के परित्याग के साथ ही निरन्तर स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन में समय व्यतीत किया जाता है। पादपोपगमन में टूटे हुए वृक्ष की टहनी की भाँति अचंचल, चेष्टारहित एक ही स्थान पर जिस मुद्रा में प्रारम्भ में स्थिर हुआ, अन्तिम क्षण तक उसी मुद्रा में अवस्थित रहना होता है। यदि नेत्र खुले हैं तो बन्द नहीं करना। यदि बन्द हैं तो खोलना नहीं है। जिसका वज्र ऋषभनाराच संहनन हो, वही पादपोपगमन संथारा कर सकता है। चौदह पूर्वों का जब विच्छेद होता है तभी पादपोपगमन अनशन का भी विच्छेद हो जाता है।[११३] पादपोपगमन के निरहारिम और अनिरहारिम ये दो प्रकार हैं।

बाह्य तप का दूसरा प्रकार ऊनोदरी है। ऊनोदरी का शब्दार्थ है–ऊन–कम एवं उदर–पेट अर्थात् भूख से कम खाना ऊनोदरी है। कहीं-कहीं पर ऊनोदरी को अवमौदर्य भी कहा गया है। इसे अल्प आहार या परिमित आहार भी कह सकते हैं। आहार के समान कषाय, उपकरण आदि की भी ऊनोदरी की जाती है। यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि उपवास करना तो तप है क्योंकि उसमें पूर्ण रूप से आहार का त्याग होता है, पर ऊनोदरी तप में तो भोजन किया जाता है फिर इसे तप किस प्रकार कहा जाये ? समाधान है–भोजन का पूर्ण रूप से त्याग करना तो तप होता ही है पर भोजन के लिए प्रस्तुत होकर भूख से कम खाना, भोजन करते हुए रसना पर संयम करना, सुस्वादु भोजन को बीच में ही छोड़ देना भी अत्यन्त दुष्कर है। आत्मसंयम और दृढ़ मनोबल के बिना यह तप सम्भव नहीं है। निराहार रहने की अपेक्षा आहार करते हुए पेट को खाली रखना कठिन और

कठिनतर है। अनशन तप स्वस्थ व्यक्ति कर सकता है पर ऊनोदरी तप रोगी और दुर्बल व्यक्ति भी कर सकता है। ऊनोदरी तप से अनेक प्रकार के रोग भी मिट जाते हैं। ऊनोदरी तप के दो भेद बताये हैं–१. द्रव्य ऊनोदरी और २. भाव ऊनोदरी। उत्तराध्ययन में ऊनोदरी के पाँच प्रकार भी बताये हैं। वे इस प्रकार हैं–

१. द्रव्य ऊनोदरी–आहार की मात्रा से कम खाना और आवश्यकता से कम वस्त्रादि रखना।

२. क्षेत्र ऊनोदरी–भिक्षा के लिए किसी स्थान आदि को निश्चित कर वहाँ से भिक्षा ग्रहण करना।

३. काल ऊनोदरी–भिक्षा के लिए काल यानी समय निश्चित कर कि अमुक समय भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा, नहीं तो नहीं।

४. भाव ऊनोदरी–भिक्षा के समय अभिग्रह आदि धारण करना।

५. पर्याय ऊनोदरी–इन चारों भेदों को क्रिया रूप में परिणत करते रहना।

द्रव्य ऊनोदरी के अन्य अनेक अवान्तर भेद हैं। द्रव्य ऊनोदरी से साधक का जीवन बाहर से हल्का, स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। भाव ऊनोदरी में साधक क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों को कम करता है। वह कम बोलता है, कलह आदि से बचता है। भाव ऊनोदरी से अन्तरंग जीवन में प्रसन्नता पैदा होती है और सद्गुणों का विकास होता है।

बाह्य तप का तृतीय प्रकार **भिक्षाचरी** है। विविध प्रकार के अभिग्रह को ग्रहण कर भिक्षा की अन्वेषणा करना भिक्षाचरी है। भिक्षा का सामान्य अर्थ मांगना है पर सिर्फ मांगना ही तप नहीं है। आचार्य हरिभद्र[११] ने भिक्षा के तीन प्रकार बताये हैं–दीनवृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्वसम्पत्करी। जो अनाथ, अपंग या आपद्ग्रस्त दरिद्र व्यक्ति मांग कर खाते हैं उनकी दीनवृत्ति भिक्षा है। जो श्रम करने में समर्थ होकर भी काम से जी चुराकर कमाने की शक्ति होने पर भी मांग कर खाते हैं, उनकी पौरुषघ्नी भिक्षा है। वह भिक्षा पुरुषार्थ का नाश करती है। जो त्यागी, अहिंसक श्रमण अपने उदरनिर्वाह के लिए माधुकरी वृत्ति से गृहस्थ के घर में सहज भाव से निर्मित निर्दोष विधि से भिक्षा ग्रहण करते है, वह भिक्षा सर्वसम्पत्करी है। इस प्रकार की भिक्षा देने वाला और ग्रहण करने वाला, दोनों ही सद्गति को प्राप्त होते हैं।

सर्वसम्पत्करी भिक्षा ही वस्तुतः कल्याणकारी भिक्षा है। भिक्षाचरी के अनेक भेद-प्रेभदों का उल्लेख उत्तराध्ययन,[११५] स्थानांग,[११६] औपपातिक[११७] आदि में हुआ है। उत्तराध्ययन, पिण्डनिर्युक्ति आदि में भिक्षुक को अनेक दोषों से बच कर भिक्षा लेने का विधान है।[११८]

बाह्य तप का चतुर्थ प्रकार **रसपरित्याग** है। इस का अर्थ है–प्रीति बढ़ाने वाला **"रसम् प्रीति विवर्द्धकम्"**। जिसके कारण भोजन में प्रीति समुत्पन्न होती हो, वह रस है। भोजन के छह रस माने गये हैं–कटु, मधुर, आम्ल, तिक्त, काषाय एवं लवण। इन रसों के कारण भोजन स्वादिष्ट बनता है। सरस भोजन को मानव भूख से भी अधिक खा जाता है। रसयुक्त भोजन स्वादिष्ट, गरिष्ठ और पौष्टिक होता है। रस से सुपच भोजन भी दुष्पच बन जाता है। उत्तराध्ययन[११९] में कहा है–रस प्रायः दीप्ति अर्थात् उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। इसलिए उन रसों को विकृति कहा है। आचार्य सिद्धसेन ने विकृति की परिभाषा करते हुए लिखा है–घी आदि पदार्थ खाने से मन में विकार पैदा होते हैं। विकार उत्पन्न होने से मानव संयम से भ्रष्ट होकर दुर्गति में जाता है। अतः इन पदार्थों का सेवन करने वाले की विकृति और विगति दोनों होती हैं। इस कारण इन्हें विगयी (विकृति और विगति) कहा है।[१२०]

पाँच इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्ति बहुत ही कठिन है। भारत के तत्त्वदर्शी मनीषियों ने कहा–"सर्वं जितं जिते रसे"–जिसने रसनेन्द्रिय को जीत लिया उसने संसार के सभी रसों को जीत लिया। यही कारण है, भगवती में साधक के लिए स्पष्ट निर्देश दिया है कि चाहे सरस आहार हो या नीरस, लोलुपता रहित होकर ऐसे खाए जैसे बिल में सांप घुस रहा हो।[१२१] साधक को आहार का निषेध नहीं है पर स्वाद का निषेध है। आचारांग में उल्लेख है कि श्रमण को स्वादवृत्ति से बचने के लिए ग्रास को बायीं दाढ़ से दाहिनी दाढ़ की ओर भी नहीं ले जाना चाहिये। वह स्वादवृत्ति रहित होकर खाए। इससे कर्मों का हल्कापन होता है। ऐसा साधक आहार करता हुआ भी तपस्या करता है।[१२२] इस प्रकार साधु आहार करता हुआ कर्मों के बन्धन को ढीले करता है। यहाँ तक कि केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। यदि आसक्त होकर आहार करता है तो कर्मबन्धन कर लेता है। अतः रसपरित्याग को तप माना है।

बाह्य तप का पाँचवाँ प्रकार **कायक्लेश** है। कायक्लेश का अर्थ शरीर को कष्ट देना है। कष्ट, एक स्वकृत होता है और दूसरा परकृत होता है। कितने

ही कष्ट न चाहने पर भी आते हैं। देव, मानव और तिर्यञ्च सम्बन्धी ऐसे कष्ट जो स्वतः आ जाते हैं और दूसरे कष्ट उदीरणा करके बुलाये जाते हैं। जैसे आसन करना, ध्यान लगाकर स्थिर हो जाना, भयंकर जंगल में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा होना, केश लुञ्चन करना आदि। जैसे मेहमान को निमंत्रण देकर बुलाया जाता है वैसे ही साधक अपने धैर्य, साहस वृद्धि के हेतु कष्टों को निमंत्रण देता है।

भगवतीसूत्र[१२३] में जहाँ कायक्लेश तप का उल्लेख है, वहाँ पर बावीस परीषहों का भी वर्णन है। कायक्लेश और परीषह में जरा अन्तर है। कायक्लेश का अर्थ है–अपनी ओर से कष्टों का स्वीकार करना। साधक विशेष कर्मनिर्जरा के हेतु अनेक प्रकार के ध्यान, प्रतिमा, केश लुञ्चन, शरीर मोह का त्याग आदि के द्वारा तप को स्वीकार करता है। यह विशेष तप कायक्लेश कहलाता है। कायक्लेश में स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है, जबकि परीषह में स्वेच्छा से कष्ट सहन नहीं किया जाता है अपितु श्रमण जीवन के नियमों का परिपालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि कोई कष्ट उपस्थित हो जाता है तो उसे सहन किया जाता है। आवश्यकचूर्णि[१२४] में लिखा है, जो सहन किये जाते हैं, वे परीषह हैं।

कायक्लेश हमारे जीवन को निखारता है। उसकी साधना के अनेक रूप आगम साहित्य में प्राप्त हैं। स्थानांग[१२५] में कायक्लेश तप के सात प्रकार बताये हैं–कायोत्सर्ग करना, उत्कुटुक आसन से ध्यान करना, प्रतिमा धारण करना, वीरासन करना, निषद्या-स्वाध्याय प्रभृति के लिए पालथी मारकर बैठना, दंडायत होकर या खड़े रहकर ध्यान करना लगण्डशायित्व। औपपातिकसूत्र[१२६] में कायक्लेश तप के चौदह प्रकार प्रतिपादित हैं–

१. ठाणट्ठिइए–कायोत्सर्ग करे।

२. ठाणइए–एक स्थान पर स्थित रहे।

३. उक्कुडु आसणिए–उत्कुटुक आसन से रहे।

४. पडिमट्ठाई–प्रतिमा धारण करे।

५. वीरासणिए–वीरासन करे।

६. नेसिज्जे–पालथी लगाकर स्थिर बैठे।

७. दंडायए–दंडे की भाँति सीधा सोया या बैठा रहे।

८. लगंडसाई–(लगण्डशायी) लक्कड़ (वक्र काष्ठ) की तरह सोता रहे।

९. आयावए–आतापना लेवे।

१०. अवाउडए–वस्त्र आदि का त्याग करे।

११. अकंडुयाए–शरीर पर खुजली न करे।

१२. अणिरट्ठहए–थूक भी न थूके।

१३. सव्वगायपरिकम्मे–सर्व शरीर की देखभाल (परिकर्म) से रहित रहे।

१४. विभूसाविप्पमुक्के–विभूषा से रहित रहे।

तत्त्वार्थसूत्र की श्रुतसागरीया वृत्ति[१२७] मूलाराधना,[१२८] भगवती आराधना,[१२९] बृहत्कल्पभाष्य[१३०] प्रभृति ग्रन्थों में कायक्लेश के गमन, स्थान, आसन, शयन और अपरिकर्म आदि भेदोपभेदों का वर्णन है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार कुछ कायक्लेश तप गृहस्थ श्रावकों को नहीं करने चाहिये।[१३१]

बाह्य तप का छठा प्रकार **प्रतिसंलीनता** है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है–आत्मलीनता। पर-भाव में लीन आत्मा को स्व-भाव में लीन बनाने की प्रक्रिया ही वस्तुतः संलीनता है। इन्द्रियों को, कषायों को, मन, वचन, काया के योगों को बाहर से हटाकर भीतर में गुप्त करना संलीनता है। प्रतिसंलीनता तप के चार प्रकार हैं–इन्द्रियप्रतिसंलीनता, कषायप्रतिसंलीनता, योगप्रतिसंलीनता, विविक्तशयनासनसेवना।[१३२]

तप के ये छह प्रकार बाह्य तप के अन्तर्गत हैं।

आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं, उनमें सर्वप्रथम **प्रायश्चित्त** है। आचार्य भद्रबाहु[१३३] ने लिखा है–जो पाप का छेदन करता है, वह प्रायश्चित्त है। पाप-विशुद्धि करने की क्रिया प्रायश्चित्त है। तत्त्वार्थराजवार्तिक[१३४] में लिखा है–अपराध का नाम प्रायः है और चित्त का अर्थ है शोधन। जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है। मानव प्रमादवश कभी दोष का सेवन कर लेता है, पर जिसकी आत्मा जागरूक है, धर्म-अधर्म का विवेक रखती है, परलोक सुधार की भावना है, अनुचित आचरण के प्रति जिसके मन में पश्चात्ताप है, दोष के प्रति ग्लानि है, वह गुरुजनों के समक्ष दोष को प्रकट कर प्रायश्चित्त की प्रार्थना करता है। गुरु दोषविशुद्धि के लिए तपश्चरण का आदेश देते हैं। यहाँ यह समझना होगा कि प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। दण्ड दिया जाता है और प्रायश्चित्त लिया जाता है। दण्ड अपराधी के मानस को झकझोरता नहीं। दण्ड केवल बाहर अटक कर ही

रह जाता है, अन्तर्मानस को स्पर्श नहीं करता। दण्ड पाकर भी कदाचित् अपराधी अधिक उद्दण्ड होता है, जबकि प्रायश्चित्त में अपराधी के मानस में पश्चात्ताप होता है।

भूल करना आत्मा का स्वभाव नहीं अपितु विभाव है। जैसे शरीर में फोड़े, फुन्सी हो जाते हैं। वे फोड़े, फुन्सी शरीर के विकार हैं, वैसे ही अपराध मानव के अन्तर्मन के विकार हैं। जिन विकारों के कारण मानव अपराध करता है, उन्हें शास्त्रीय भाषा में प्रतिसेवन कहा है। भगवती[१३५] और स्थानांग[१३६] आदि में प्रतिसेवन के दस प्रकार बताये हैं–दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर, आपत्ति, शंकित, सहसाकार, भय, प्रद्वेष और विमर्श। प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं।[१३७]

आभ्यन्तर तप का दूसरा भेद **विनय** है। जिसका मानस सरल होता है वही गुरुजनों का विनय करता है। जहाँ अहंकार का प्राधान्य है वहाँ विनय नहीं है। सूत्रकृतांग-टीका में विनय की परिभाषा करते हुए लिखा है–जिसके द्वारा कर्मों का विनयन किया जाता है वह विनय है।[१३८] उत्तराध्ययन[१३९] शान्त्याचार्य टीका में लिखा है–जो विशिष्ट एवं विविध प्रकार का नय/नीति है, वह विनय है तथा जो विशिष्टता की ओर ले जाता है, वह विनय है। दशवैकालिक में विनय को धर्म का मूल कहा गया है। जैन आगम साहित्य में विनय शब्द का प्रयोग हजारों बार हुआ है। जब हम आगम साहित्य का परिशीलन करते हैं तो विनय शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत मिलता है–

१. विनय–अनुशासन,

२. विनय–आत्मसंयम (शील, सदाचार),

३. विनय–नम्रता एवं सद्व्यवहार।

उत्तराध्ययन में विनय का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। यह मुख्य रूप से अनुशासनात्मक है। गुरुजनों की आज्ञा, इच्छा आदि का ध्यान रखकर आचरण करना अनुशासनविनय है।

विनीत व्यक्ति असदाचरण से सदा भयभीत रहता है। उसका मन आत्मसंयम में लीन रहता है। अविनीत व्यक्ति सड़े कानों वाली कुतिया की तरह दर-दर ठोकरें खाता है। लोग उसके व्यवहार से घृणा करते हैं। विनीत गुरुजनों के समक्ष सभ्यतापूर्वक बैठता है। वह कम बोलता है। बिना पूछे नहीं बोलता। इस प्रकार वह आत्मसंयम और सदाचार का पालन करता है।

विनय का तीसरा अर्थ नम्रता और सद्व्यवहार है। दशवैकालिक[१४०] में लिखा है–गुरुजनों के समक्ष शयन या आसन उनसे कुछ नीचा रखना चाहिये। नमस्कार करते समय उनके चरणों का स्पर्श कर वन्दना करे। उसके किसी भी व्यवहार में अहंकार न झलके। जब गुरुजन उसे बुलायें, उस समय आसन पर न बैठा रहे। उस समय अंजलिबद्ध होकर वन्दन की मुद्रा में पूछे–क्या आज्ञा है ? गुरुजनों की आशातना न करे।

भगवती[१४१] में विनय के सात प्रकार बताये हैं–१. ज्ञानविनय, २. दर्शनविनय, ३. चारित्रविनय, ४. मनोविनय, ५. वचनविनय, ६. कायविनय, ७. लोकोपचारविनय।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य[१४२] में लिखा है कि विनय कई प्रकार से लोग करते हैं। उन्होंने विनय के पाँच उद्देश्य बताये हैं–

१. लोकोपचार–लोकव्यवहार के लिये माता-पिता, अध्यापक आदि का विनय करना।

२. अर्थविनय–अर्थ के लोभ से सेठ आदि की सेवा-विनय करना।

३. कामविनय–कामवासना की पूर्ति के लिए स्त्री आदि की प्रशंसा करना।

४. भयविनय–अपराध होने पर न्यायाधीश, कोतवाल आदि का विनय करना।

५. मोक्षविनय–आत्मकल्याण के लिये गुरु आदि का विनय करना।

विनय के जो चार उद्देश्य हैं, वे जब तक सीमा के अन्तर्गत हैं तब तक उचित हैं। सीमा का उल्लंघन करने पर वह विनय नहीं चापलूसी है। चापलूसी एक दोष है तो विनय एक सद्गुण है। विनय में सद्गुणों की प्राप्ति और गुणीजनों का सम्मान मुख्य होता है, जबकि चापलूसी में दूसरों को ठगने की भावना प्रमुख रूप से रहती है। चीता शिकार पर जब हमला करता है तो पहले झुकता है पर उसका झुकना विनय नहीं है। उसमें कपट की भावना रही हुई है। उसका झुकना उसके कर्मबन्धन का कारण है।

आभ्यन्तर तप का तृतीय प्रकार **वैयावृत्य** है। वैयावृत्य का अर्थ है–धर्मसाधना में सहयोग करने वाली आहार आदि वस्तुओं से सेवा-शुश्रूषा करना। वैयावृत्य से तीर्थंकरनाम गोत्र कर्म का उपार्जन हो सकता है।[१४३]

तीर्थंकर आध्यात्मिक वैभव की दृष्टि से विश्व के अद्वितीय पुरुष हैं। वे अनन्त बली होते हैं। आत्मा की शक्तियों का पूर्ण विकास उनके जीवन में होता है। देवेन्द्र, नरेन्द्र भी उनके चरणों में नत होते हैं। एक जैनाचार्य ने लिखा है कि एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की कि एक साधक आपकी सेवा करता है और एक साधक रोगी, वृद्ध आदि श्रमणों की सेवा करता है, उन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? आप किसे धन्यवाद प्रदान करेंगे ?

भगवान् महावीर ने कहा–'**जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने**' अर्थात् जो रोगी की सेवा करता है, वही वस्तुतः धन्यवाद का पात्र है। गणधर गौतम इस उत्तर को सुनकर आश्चर्यान्वित हो गये। वे सोचने लगे–कहाँ एक ओर अनन्तज्ञानी लोकोत्तम पुरुष भगवान् की सेवा और दूसरी ओर एक सामान्य श्रमण की परिचर्या ! दोनों में जमीन-आसमान की तरह अन्तर है। तथापि भगवान् अपनी भक्ति से भी बढ़कर रुग्ण श्रमण की सेवा को महत्त्व दे रहे हैं। अतः गणधर गौतम ने पुनः जिज्ञासा प्रकट की तो भगवान् महावीर ने कहा–मेरे शरीर की सेवा का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है मेरी आज्ञा की आराधना करने का। "**आणाराहणं खु जिणाणं**"–जिनेश्वरों की आज्ञा का पालन करना ही सबसे बड़ी सेवा है।

स्थानांगसूत्र में भगवान् महावीर प्रभु ने आठ शिक्षाएँ प्रदान की हैं। उनमें से दो शिक्षायें सेवा से सम्बन्धित हैं। जो अनाश्रित हैं, असहाय हैं, जिनका कोई आधार नहीं है, उनको सहायता-सहयोग एवं आश्रय देने को सदा तत्पर रहना चाहिये तथा दूसरी शिक्षा है–रोगी की सेवा करने के लिए अग्लान भाव से सदा तत्पर रहना चाहिये।[१४४]

स्थानांग और भगवती में वैयावृत्य के दस प्रकार बताये हैं–१. आचार्य की सेवा, २. उपाध्याय की सेवा, ३. स्थविर की सेवा, ४. तपस्वी की सेवा, ५. रोगी की सेवा, ६. नवदीक्षित मुनि की सेवा, ७. कुल की सेवा (एक आचार्य के शिष्यों का समुदाय–कुल), ८. गण की सेवा, ९. संघ की सेवा, १०. साधर्मिक की सेवा।

सेवा करते समय विवेक की भी आवश्यकता है। सेवा करने वाले को यह ध्यान में रहना चाहिये कि अवसर के अनुसार सेवा की जाए। व्यवहारभाष्य में लिखा है कि आवश्यकता होने पर भोजन देना, पानी देना, सोने के लिये बिस्तर आदि देना, गुरुजनों के वस्त्रादि का प्रतिलेखन कर

देना, पाँव पोंछना, रुग्ण हों तो दवा आदि का प्रबन्ध करना, रास्ते में डगमगा रहे हों तो सहारा देना, राजा आदि के क्रुद्ध होने पर आचार्य, संघ आदि की रक्षा करना, चोर आदि से बचाना, यदि किसी ने दोष का सेवन किया है तो उसको स्नेहपूर्वक समझा कर उसकी विशुद्धि करवाना, रुग्ण हो तो उसकी दवा-पथ्यादि का ध्यान रखना, रोगी के प्रति घृणा या ग्लानि न कर अग्लान भाव से सेवा करना।

आभ्यन्तर तप का चतुर्थ प्रकार स्वाध्याय है। **'सुष्ठु-आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः।'**[१४५] सत् शास्त्रों का मर्यादापूर्वक और विधिसहित अध्ययन करना स्वाध्याय है। दूसरी व्युत्पत्ति है–**स्वस्य स्वस्मिन् अध्यायः–अध्ययनम्–स्वाध्यायः।** अपना, अपने ही भीतर अध्ययन, आत्मचिन्तन, मनन स्वाध्याय है। जैसे शरीर के विकास के लिये व्यायाम आवश्यक है, वैसे ही बुद्धि के विकास के लिए स्वाध्याय है। स्वाध्याय से नया विचार और नया चिन्तन उद्‌बुद्ध होता है। गलत आहार स्वास्थ्य के लिये अहितकर है, वैसे ही विकारोत्तेजक पुस्तकों का वाचन भी मन को दूषित करता है। अध्ययन वही उपयोगी है जो सद्‌विचारों को उद्‌बुद्ध करे। इसीलिये भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन में स्पष्ट शब्दों में कहा कि स्वाध्याय समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाता है।[१४६] अनेक भवों के संचित कर्म स्वाध्याय से क्षीण हो जाते हैं।[१४७] स्वाध्याय अपने-आप में महान् तप है। तैत्तिरीय आरण्यक में वैदिक ऋषि ने कहा–**तपो हि स्वाध्यायः**[१४८] –स्वाध्याय स्वयं एक तप है। उसकी साधना-आराधना में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा है–**स्वाध्यायान् मा प्रमदः।**[१४९] स्वाध्याय से बुद्धि निर्मल होती है। फर्श की ज्यों-ज्यों घुटाई होती है, त्यों-त्यों वह चिकना होता है। उसमें प्रतिबिम्ब झलकने लगता है, वैसे ही स्वाध्याय से मन निर्मल और पारदर्शी बन जाता है। आगमों के गम्भीर रहस्य उसमें प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। आचार्य पतञ्जलि ने योगदर्शन में लिखा है कि स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात्कार होने लगता है।[१५०] एक चिन्तक ने लिखा है कि स्वाध्याय से चार बातों की उपलब्धि होती है, स्वाध्याय से जीवन में सद्‌विचार आते हैं, मन में सत्संस्कार जागृत होते हैं। स्वाध्याय से अतीत के महापुरुषों की दीर्घकालीन साधना के अनुभवों की थाती प्राप्त होती है। स्वाध्याय से मनोरंजन के साथ आनन्द भी प्राप्त होता है। स्वाध्याय से मन एकाग्र और स्थिर होता है। जैसे अग्निस्नान करने से स्वर्ण मैलमुक्त हो जाता है वैसे ही

स्वाध्याय से मन का मैल नष्ट होता है। अतः नियमित स्वाध्याय करना चाहिये।

भगवतीसूत्र,[१५१] स्थानांग,[१५२] औपपातिक[१५३] प्रभृति आगम साहित्य में स्वाध्याय के पांच प्रकार बताये हैं। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा इनके भी अवान्तर भेद किये गये हैं। स्वाध्याय से ज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है।

अन्तरंग तप का पाँचवाँ प्रकार **ध्यान** है। मन की एकाग्र अवस्था ध्यान है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान-चिन्तामणि कोष में लिखा है—अपने विषय में मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।[१५४] आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है—चित्त को किसी भी विषय में एकाग्र करना, स्थिर करना, ध्यान है।[१५५]

जिज्ञासा हो सकती है कि मन का किसी भी विषय में स्थिर होना ही यदि ध्यान है तो लोभी व्यक्ति का ध्यान सदा धन कमाने में लगा रहता है, चोर का ध्यान वस्तु को चुराने में लगा रहता है, कामी का ध्यान वासना की पूर्ति में लगा रहता है, क्या वह भी ध्यान है ? समाधान है कि पापात्मक चिन्तन की एकाग्रता भी ध्यान है। भारत के तत्त्वदर्शी मनीषियों ने ध्यान को दो भागों में विभक्त किया है—एक शुभ ध्यान है और दूसरा अशुभ ध्यान है। शुभ ध्यान मोक्ष का कारण है तो अशुभ ध्यान नरक और तिर्यञ्च का कारण है। अशुभ ध्यान अधोमुखी होता है तो शुभ ध्यान ऊर्ध्वमुखी होता है। अशुभ ध्यान अप्रशस्त है, शुभ ध्यान प्रशस्त है। इसीलिये स्थानांग आदि में ध्यान के चार प्रकार बताये हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन चार प्रकारों में प्रथम दो प्रकार अशुभ ध्यान के हैं। ये दोनों प्रकार तप की कोटि में नहीं आते। अतः आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ध्यान की परिभाषा इस प्रकार की है—शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना ध्यान है।[१५६] मन की अन्तर्मुखता, अन्तर्लीनता शुभ ध्यान है। मन स्वभावतः चंचल है। वह लम्बे समय तक एक वस्तु पर स्थिर नहीं रह सकता। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि छद्मस्थ का मन अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक यानी ४८ मिनिट तक एक आलम्बन पर स्थिर रह सकता है, उससे अधिक नहीं। पवित्र विचारों में मन को स्थिर करना धर्मध्यान है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो आत्मा का, आत्मा के द्वारा, आत्मा के विषय में सोचना, चिन्तन करना धर्मध्यान है।

भगवती, स्थानांग आदि में धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, ये चार प्रकार कहे हैं। धर्मध्यान के आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढ़रुचि–ये चार लक्षण हैं। इसी प्रकार धर्मध्यान को सुस्थिर रखने के लिये धर्मध्यान के चार आलम्बन भी बताये गये हैं–१. वाचना, २. पृच्छना, ३. परिवर्तना और ४. धर्मकथा। धर्मकथा के समय जो चिन्तन तल्लीनता प्रदान करता है, उस चिन्तन को हम अनुप्रेक्षा कहते हैं। अनुप्रेक्षा के भी चार प्रकार हैं–१. एकत्वानुप्रेक्षा, २. अनित्यानुप्रेक्षा, ३. अशरणानुप्रेक्षा एवं ४. संसारानुप्रेक्षा। इन चारों भावनाओं से मन में वैराग्य भावना तरंगित होती है। भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण न्यून हो जाता है। धर्म-ध्यान से जीवन में आनन्द का सागर ठाठें मारने लगता है।

धर्मध्यान मे मुख्य तीन अंग हैं–ध्यान, ध्याता और ध्येय। ध्यान का अधिकारी ध्याता कहलाता है। एकाग्रता ध्यान है। जिसका ध्यान किया जाता है, वह ध्येय है। चंचल मन वाला व्यक्ति ध्यान नहीं कर सकता। जहाँ आसन की स्थिरता ध्यान में अपेक्षित है, वहाँ मन की स्थिरता भी बहुत अपेक्षित है। इसीलिये ज्ञानार्णव में लिखा है, जिसका चित्त स्थिर हो गया है, वही वस्तुतः ध्यान का अधिकारी है। ध्येय के सम्बन्ध में तीन बातें हैं–एक परावलम्बन, जिसमें दूसरी वस्तुओं का अवलम्बन लेकर मन को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है। श्रमण भगवान् महावीर अपने साधनाकाल में एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित करके ध्यानमुद्रा में खड़े रहे थे।[१५७] जब एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित होती है तो मन स्थिर हो जाता है। इसे त्राटक भी कह सकते हैं।

ध्यान का दूसरा प्रकार स्वरूपावलम्बन है, इसमें बाहर से दृष्टि हटाकर नेत्रों को बन्द कर विविध प्रकार की कल्पनाओं से यह ध्यान किया जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में, आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत जो ध्यान के प्रकार हैं और उनकी धारणाओं के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण किया है, वह सब स्वरूपावलम्बन ध्यान के अन्तर्गत ही है। हमने 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' ग्रन्थ में विस्तार से इस सम्बन्ध में लिखा है। जिज्ञासु पाठक उसका अवलोकन करें।

तीसरा प्रकार है–निरवलम्बन। इसमें किसी भी प्रकार का कोई आलम्बन

नहीं होता। मन विचार, विकार और विकल्पों से शून्य होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो रूपातीत ध्यान प्रतिपादित किया है–वह यही है। इसमें निरंजन, निराकार सिद्धस्वरूप का ध्यान किया जाता है और आत्मा स्वयं कर्म-मल से मुक्त होने का अभ्यास करता है।[१५८] इस ध्यान में साधक यह समझता है कि मैं अलग हूँ और इन्द्रियाँ व मन अलग हैं। साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। रूप से अरूप की ओर बढ़ने के लिये अत्यधिक अभ्यास की आवश्यकता है। रूपातीत ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब भेदरेखा स्वतः ही समाप्त हो जाती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान–तीनों एकाकार हो जाते हैं। जैसे सागर में नदियाँ मिलकर एकाकार हो जाती हैं। तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी विभिन्न टीकाओं में ध्यान का सारगर्भित विश्लेषण प्रतिपादन किया गया है।[१५९]

ध्यान का चतुर्थ प्रकार शुक्लध्यान है। यह ध्यान की परम विशुद्ध अवस्था है। जब साधक के अन्तर्मानस से कषाय की मलिनता मिट जाती है, तब निर्मल मन से जो ध्यान किया जाता है, वह शुक्लध्यान है। शुक्लध्यानी का अन्तर्मानस वैराग्य से सराबोर होता है। उसके तन पर यदि कोई प्रहार करता है, उसका छेदन या भेदन करता है तो भी उसको संक्लेश नहीं होता। देह में रहकर भी वह देहातीत स्थिति में रहता है। शुक्लध्यान के शुक्ल और परमशुक्ल ये दो भेद हैं। चतुर्दश पूर्वधर तक का ध्यान शुक्लध्यान है और केवलज्ञानी का ध्यान परमशुक्लध्यान है।[१६०]

स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार प्रकार भगवती,[१६१] स्थानांग,[१६२] समवायांग[१६३] आदि में बताये हैं–

१. **पृथक्त्ववितर्कसविचार**–पृथक्त्व का अर्थ है–भेद और वितर्क का तात्पर्य है–श्रुत। प्रस्तुत ध्यान में श्रुतज्ञान के आधार पर पदार्थ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया जाता है। द्रव्य, गुण, पर्याय पर चिन्तन करते हुए द्रव्य से पर्याय पर और पर्याय से द्रव्य पर चिन्तन किया जाता है। इस ध्यान में भेदप्रधान चिन्तन होता है।

२. **एकत्ववितर्कअविचार**–जब भेदप्रधान चिन्तन में साधक का अन्तर्मानस स्थिर हो जाता है तब वह अभेदप्रधान चिन्तन की ओर कदम बढ़ाता है। वह किसी एक पर्यायरूप अर्थ पर चिन्तन करता है तो उसी पर्याय पर उसका चिन्तन स्थिर रहेगा। जिस स्थान पर तेज हवा का अभाव होता है, वहाँ पर दीपक की लौ इधर-उधर डोलती नहीं है। उस दीपक को

मंद हवा मिलती रहती है, वैसे ही प्रस्तुत ध्यान में साधक सर्वथा निर्विचार नहीं होता किन्तु एक ही वस्तु पर उसके विचार केन्द्रित होते हैं।

३. **सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति**–यह ध्यान बहुत ही सूक्ष्म क्रिया पर चलता है। इस ध्यान में अवस्थित होने पर योगी पुनः ध्यान से विचलित नहीं होता, इस कारण इस ध्यान को सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति कहा है। यह ध्यान केवल वीतरागी आत्मा को ही होता है। जब केवलज्ञानी का आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहता है, उस समय योगनिरोध का क्रम प्रारम्भ होता है। मनोयोग और वचनयोग का पूर्ण निरोध हो जाने पर जब केवल सूक्ष्म काययोग से श्वासोच्छ्‌वास ही अवशेष रह जाता है, उस समय का ध्यान ही सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति ध्यान है। इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही आत्मा अयोगी बन जाता है।

४. **समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति**–जब आत्मा सम्पूर्ण रूप से योगों का निरुन्धन कर लेता है तो समस्त यौगिक चंचलता समाप्त हो जाती है। आत्मप्रदेश सम्पूर्ण रूप से निष्कम्प बन जाते हैं। सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान में श्वासोच्छ्‌वास की क्रिया जो शेष रहती है, वह भी इस भूमिका पर पहुँचने पर समाप्त हो जाती है। यह परम निष्कम्प और सम्पूर्ण क्रिया-योग से मुक्त ध्यान की अवस्था है। यह अवस्था प्राप्त होने पर पुनः आत्मा पीछे नहीं हटता इसीलिए इसका नाम समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यान दिया है। इस ध्यान के दिव्य प्रभाव से वेदनीयकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म नष्ट हो जाते हैं और अरिहन्त, सिद्ध बन जाते हैं। शुक्लध्यान के प्रारम्भ के दो प्रकार सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। तीसरा प्रकार तेरहवें गुणस्थान में होता है और चौथा प्रकार चौदहवें गुणस्थान में। प्रथम के दो ध्यानों में श्रुत का आलम्बन होता है। अन्तिम दो प्रकारों में आलम्बन नहीं होता। ये दोनों ध्यान निरवलम्ब हैं।

शुक्लध्यानी आत्मा के चार चिह्न बताये गये हैं, जिससे शुक्लध्यानी की पहचान होती है। वे हैं–

१. अव्यथ–भयंकर से भयंकर उपसर्गों में भी विचलित-व्यथित नहीं होता।

२. असम्मोह–सूक्ष्म तात्त्विक विषयों में अथवा देवाधिकृत माया से सम्मोहित नहीं होता। उसकी श्रद्धा पूर्ण रूप से अडोल होती है।

३. विवेक–आत्मा और देह, ये दोनों पृथक् हैं–इसका सही परिज्ञान उसको होता है। वह पूर्ण रूप से जागरूक होता है।

४. व्युत्सर्ग–यह सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त होता है। वह प्रतिपल प्रतिक्षण वीतराग भाव की ओर गतिशील होता है।

भगवती[१६४] और स्थानांग[१६५] में शुक्लध्यान के क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति ये चार आलम्बन बतलाए हैं। शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ भी आगम साहित्य में प्रतिपादित हैं, वे इस प्रकार हैं–

१. अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा–अनन्त भव-परम्परा के सम्बन्ध में चिन्तन करना।

२. विपरिणामानुप्रेक्षा–वस्तु प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, शुभ पुद्गल अशुभ में बदल जाते हैं, इत्यादि चिन्तन।

३. अशुभानुप्रेक्षा–संसार के अशुभ स्वरूप पर चिन्तन करने से उन पदार्थों के प्रति आसक्ति समाप्त होती है और मन में निर्वेद भाव पैदा होता है।

४. अपायानुप्रेक्षा–पाप के आचरण से अशुभ कर्मों का बन्धन होता है, जिससे आत्मा को विविध गतियों में परिभ्रमण करना पड़ता है, अतः उनके कटु परिणाम पर चिन्तन करना।

ये चारों अनुप्रेक्षाएँ शुक्लध्यान की प्रारम्भिक अवस्थाओं में होती हैं, जब धीरे-धीरे स्थिरता आ जाती है तो स्वतः ही बाह्योन्मुखता समाप्त हो जाती है।

आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार व्युत्सर्ग है। इस तप की साधना से जीवन में निर्ममत्व, निस्पृहता, अनासक्ति और निर्भयता की भव्य भावना लहराने लगती है। व्युत्सर्ग में 'वि' उपसर्ग है। 'वि' का अर्थ है–विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है त्याग। आशा और ममत्व आदि का परित्याग ही व्युत्सर्ग है। दिगम्बर आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक[१६६] में व्युत्सर्ग की परिभाषा करते हुए लिखा है–निस्संगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग उत्सर्ग है। आत्मसाधना के लिये अपने-आप का उत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है। आचार्य भद्रबाहु[१६७] ने व्युत्सर्ग करने वाले साधक के अन्तर्मानस का चित्रण करते हुए लिखा है–यह शरीर अन्य है और मेरा आत्मा अन्य है। शरीर नाशवान् है, आत्मा शाश्वत है। व्युत्सर्ग करने वाला साधक स्व के

यानी आत्मा के निकट से निकटतर होता चला जाता है और पर की ममता से मुक्त होता है।

उत्तराध्ययन[१६८] में व्युत्सर्ग के अर्थ में ही कायोत्सर्ग का प्रयोग हुआ है। कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग है, पर भगवती[१६९] में व्युत्सर्ग तप के दो भेद बताये हैं–१ द्रव्य व्युत्सर्ग और २. भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं–१. गण व्युत्सर्ग २. शरीर व्युत्सर्ग ३. उपधि व्युत्सर्ग ४. भक्तपान व्युत्सर्ग। इसी प्रकार भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं–१. कषाय व्युत्सर्ग २. संसार व्युत्सर्ग और ३. कर्म व्युत्सर्ग। साधक पहले द्रव्य व्युत्सर्ग करता है। द्रव्य व्युत्सर्ग से वह आहार, वस्त्र, पात्र और शरीर पर के ममत्व को कम करता है। व्युत्सर्ग में सबसे प्रमुख कायोत्सर्ग है। काया को धारण करते हुए भी काया की अनुभूति व ममता से मुक्त हो जाना एक बड़ी साधना है। एतदर्थ ही **'वोसट्ठकाए, वोसट्ठचत्तदेहे'** जैसे विशेषण साधक के लिये प्रयुक्त हुए हैं। जिसने कायोत्सर्ग सिद्ध कर लिया, वह अन्य व्युत्सर्ग भी सहज रूप से कर लेता है।

यह स्मरण रखना होगा कि जैन तपःसाधना का जो पवित्र पथ है, उसमें हठयोग नहीं है। उस तप में किसी भी प्रकार का तन और मन के साथ बलात्कार नहीं होता अपितु धीरे-धीरे तन और मन को प्रबुद्ध किया जाता है और प्रसन्नता के साथ तप की आराधना की जाती है। जैनदृष्टि से तप का संलक्ष्य आत्मतत्त्व की उपलब्धि है। तप से, साधक का अन्तिम लक्ष्य जो मोक्ष है, उसकी उपलब्धि होती है।

तप के सम्बन्ध में वैदिक परम्परा में भी चिन्तन किया है। वैदिक ऋषियों ने लिखा है कि तप से ही वेद उत्पन्न हुआ है।[१७०] तप से ही ऋत् और सत्य उत्पन्न हुए हैं।[१७१] तप से ही ब्रह्म की अन्वेषणा की जा सकती है।[१७२] तप से ही मृत्यु पर विजय-वैजयन्ती फहराई जा सकती है।[१७३] तप से ही लोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[१७४] आचार्य मनु ने लिखा है–जो कुछ भी दुर्लभ और दुस्तर इस संसार में है वह सब तपस्या से ही प्राप्य है। तप की शक्ति को कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता।[१७५] इस तरह वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में तप की महिमा और गरिमा का उट्टंकण हुआ है।

बौद्धपरम्परा में भी तप का वर्णन है। सुत्तनिपात के महामंगलसुत्त में तथागत बुद्ध ने कहा–तप, ब्रह्मचर्य, आर्य सत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार, ये उत्तम मंगल हैं।[१७६] सुत्तनिपात के काशीभारद्वाज सुत्त में तथागत बुद्ध ने कहा–मैं श्रद्धा का बीज वपन करता हूँ, उस पर तपश्चर्या

की वर्षा होती है, शरीर और वाणी से संयम रखता हूँ और आहार से नियमित रहकर सत्य से मन के दोषों की गोड़ाई करता हूँ।[१७७] अंगुत्तरनिकाय दिट्ठवज्जसुत्त में तथागत ने कहा कि किसी तप या व्रत को करने से किसी के कुशल धर्म की अभिवृद्धि होती है और अकुशल धर्म नष्ट होते हैं तो उसे वह तप आदि अवश्य करना चाहिदे।[१७८] तथागत बुद्ध ने स्वयं कठिनतम तप तपा था।[१७९] उनका तपोमय जीवन इस बात का ज्वलन्त प्रतीक है कि बौद्धसाधना में तप का विशिष्ट स्थान रहा है। बुद्ध मध्यममार्गी थे। इस कारण उनके द्वारा प्रतिपादित तप भी मध्यममार्गी ही रहा। उसमें उतनी कठोरता नहीं आ पाई।

विस्तार भय से हम अन्य आजीवक प्रभृति परम्परा में जो तप का स्वरूप रहा और विभिन्न परम्पराओं ने तप का विविध दृष्टियों से जो वर्गीकरण किया, उस पर यहाँ चिन्तन नहीं कर रहे हैं। हम संक्षेप में यही बताना चाहते हैं कि जैनपरम्परा ने जो तप का विश्लेषण किया है उस तप का उद्देश्य एकान्त आध्यात्मिक उत्कर्ष करना है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये उसने ज्ञानसमन्वित तप को महत्त्व दिया है। जिस तप के पीछे समत्व की साधना नहीं है, भेद-विज्ञान का दिव्य आलोक जगमगा नहीं रहा है वह तप नहीं, ताप है/संताप है/परिताप है।

श्रमण भगवान् महावीर ने कहा—एक अज्ञानी साधक एक-एक महीने की तपस्या करता है और उस तप की परिसमाप्ति पर कुशाग्र जितना अन्न ग्रहण करता है। वह साधक ज्ञानी की सोलहवीं कला के बराबर भी धर्म का आचरण नहीं करता।[१८०] तप का प्रयोजन आत्म-परिशोधन है, न कि देह-दण्डन। जब हमें घी को तपाना होता है तो उसे पात्र में डालकर ही तपाया जा सकता है, इसीलिये घृत के साथ-साथ पात्र भी तप जाता है, जबकि हमारा हेतु तो घृत तपाना ही होता है। उसी प्रकार जब कोई तपस्वी साधक तपश्चर्या में तल्लीन होता है तो उसकी तपस्या का हेतु होता है—आत्मा को शोधना, किन्तु आत्मा को तपाने/शोधने की इस प्रक्रिया में शरीर स्वतः ही तप जाता है। चेष्टा आत्मशोधन की है किन्तु शरीर आत्मा का भाजन/पात्र होने से तपता है। जिस तप में मानसिक संक्लेश हो, पीड़ा हो, वह तप नहीं है। तप में आत्मा को आकुलता नहीं होती, क्योंकि तप तो आत्मा का आनन्द है। तप जाग्रत आत्मा की अनुभूति है। इससे मन की मलिनता नष्ट होती है, वासनाएँ शिथिल होती हैं; चेतना में नये आनन्द का आयाम खुल जाता है और नित्य नूतन अनुभूति होने लगती है। यह है तप का जीवन्त, जाग्रत और शाश्वत स्वरूप। तप एक ऐसी उष्मा है, जो विकार को नष्ट कर आत्मा को वीतराग बनाती है।

परीषह : एक चिन्तन

भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक ८ में गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने परीषह के २२ प्रकार बताये हैं। परीषह का अर्थ है– कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना। परीषह में जो कष्ट सहन किये जाते हैं वे स्वेच्छा से नहीं अपितु श्रमणजीवन की आचार संहिता का पालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि किसी प्रकार का कोई संकट समुपस्थित हो जाता है तो उसे सहन किया जाता है। किन्तु तपस्या में जो कष्ट सहन किया जाता है, वह स्वेच्छा से किया जाता है। कष्ट श्रमणजीवन को निखारने के लिए आता है। श्रमण को कष्टसहिष्णु होना चाहिए, जिससे वह साधना-पथ से विचलित न हो सके। भगवती में जिस प्रकार परीषह के बाईस प्रकार बतायें हैं वैसे ही उत्तराध्ययन[१८१] और समवायाङ्ग[१८२] सूत्र में भी बाईस परीषह-प्रकारों को बताया है। संख्या की दृष्टि से समानता होने पर भी क्रम की दृष्टि से कुछ अन्तर है।

अंगुत्तरनिकाय[१८३] में तथागत बुद्ध ने कहा है–भिक्षु को दुःखपूर्ण, तीव्र, प्रखर, कटु, प्रतिकूल, बुरी, शारीरिक वेदनाएं हों, उन्हें सहन करने का प्रयास करना चाहिए। भिक्षुओं को समभावपूर्वक कष्ट सहन करने का सन्देश देते हुए सुत्तनिपात[१८४] में भी बुद्ध ने कहा है–धीर, स्मृतिमान्, संयत आचरण वाला भिक्षु डसने वाली मक्खियों से, सर्पों से, पापियों द्वारा दी जाने वाली पीड़ा से और पशुओं से भयभीत न हो, सभी कष्टों का सामना करे। बीमारी के कष्ट को, क्षुधा की वेदना को, शीत और उष्ण को सहन करे। सुत्तनिपात[१८५] में कष्टसहिष्णुता के लिए परीषह शब्द का प्रयोग हुआ है, पर जैनपरम्परा में और बौद्धपरम्परा में परीषह के सम्बन्ध में कुछ पृथक्-पृथक् चिन्तन है। जैनदृष्टि से परीषह को सहन करना मुक्ति-मार्ग के लिये साधक है, जबकि बौद्धपरम्परा में परीषह निर्वाणमार्ग के लिये बाधक है और उस बाधक तत्त्व को दूर करने का सन्देश दिया है।[१८६] तथागत बुद्ध परीषह को सहन करने की अपेक्षा परीषह को दूर करना श्रेयस्कर समझते थे। दोनों परम्पराओं में परीषह का मूल मन्तव्य एक होने पर भी दृष्टिकोण में अन्तर है।

जैन और बौद्ध परम्परा में जिस प्रकार परीषह का निरूपण हुआ है और मुनियों के लिये कष्ट-सहिष्णु होना आवश्यक माना है वैसे ही वैदिक परम्परा में भी संन्यासियों के लिये कष्टसहिष्णु होना आवश्यक माना गया है। वहाँ पर यह भी प्रतिपादित किया गया है कि संन्यासियों को कष्टों को निमंत्रित करना चाहिए। आचार्य मनु ने लिखा है–वानप्रस्थी को पंचाग्नि के मध्य खड़े होकर, वर्षा में खुले में खड़े रहकर और शीत ऋतु में गीले वस्त्र धारण करने चाहिए।[१८७] उसे खुले आकाश के नीचे सोना चाहिये और शरीर में रोग पैदा होने पर भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस तरह कष्ट को स्वेच्छापूर्वक निमंत्रण देने की प्रेरणा दी है।

किन कर्मप्रकृतियों के कारण कौन से परीषह होते हैं, उस पर भी प्रकाश डालते हुए बताया है–ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय के कारण परीषह उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार साधनाखण्ड में विविध प्रकार की जिज्ञासाएं हैं और सटीक समाधान भी हैं। अत्यधिक विस्तार न हो जाये इस दृष्टि से हमने संक्षेप में ही कुछ सूचन किया है। भगवती शतक २५, उद्देशक ४ में संक्षिप्त में द्वादशांगी का परिचय दिया है। उसका अधिक विस्तार समवायांग और नन्दीसूत्र में मिलता है।

■

स्कन्दक परिव्राजक के प्रश्नोत्तर

भगवतीसूत्र में जहाँ साधना के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन हुआ है, उसके विविध भेद-प्रभेद निरूपित हैं; वहाँ पर धर्मकथाओं का भी उपयोग हुआ है। विविध व्यक्तियों के पवित्र चरित्र की विभिन्न गाथाएँ उट्टंकित हैं। भगवान् महावीर के युग में श्रावस्ती नगरी के सन्निकट कृतंगला नामक एक नगर था, जिसे कयंगला भी कहा गया है। बौद्धसाहित्य के आधार से कितने ही विज्ञ संथाल जिले में अवस्थित कंकजोल को ही कतंगला (कयंगला) मानते हैं। मुनिश्री इन्द्रविजयजी का मन्तव्य है कि कयंगला मध्य देश की पूर्वी सीमा पर थी जिसका उल्लेख रायपालचरित में हुआ है। यह स्थान राजमहल जिले में है। यह कयंगला श्रावस्ती की कयंगला से पृथक् है।[१८८]

भगवान् महावीर के युग में परिव्राजकों की संख्या विपुल मात्रा में थी। परिव्राजक ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित संन्यासी होते थे। विशिष्टधर्मसूत्र में वर्णन है कि परिव्राजक को अपना सिर मुण्डित रखना चाहिये। एक वस्त्र या चर्मखण्ड धारण करना चाहिये। गायों द्वारा उखाड़ी गई घास से अपने शरीर को आच्छादित करना चाहिये और उन्हें जमीन पर ही सोना चाहिये।[१८९] परिव्राजक आवसथ (अवसह) में रहते थे तथा दर्शनशास्त्र पर और वैदिक आचारसंहिता पर शास्त्रार्थ करने हेतु भारत के विविध अंचलों में पहुँचते थे। निशीथचूर्णि में लिखा है--परिव्राजक लोग गेरुआ वस्त्र धारण करते थे, इसलिये वे गेरु और गैरिक भी कहलाते थे।[१९०] परिव्राजक भिक्षा से आजीविका करते थे।[१९१] औपपातिक सूत्र,[१९२] सूत्रकृतांगनिर्युक्ति,[१९३] पिण्डनिर्युक्ति,[१९४] बृहत्कल्पभाष्य,[१९५] निशीथसूत्र सभाष्य,[१९६] आवश्यकचूर्णी,[१९७] धम्मपदअट्ठकथा,[१९८] दीघनिकाय अट्ठकथा,[१९९] ललितविस्तर,[२००] आदि में परिव्राजक, तापस, संन्यासी आदि अनेक प्रकार के साधकों का विस्तृत वर्णन है। आर्य स्कन्दक का वर्णन भगवती के शतक २ उद्देशक १ में विस्तार से आया है। वह एक महामनीषी परिव्राजक था। उससे पिंगल नामक निर्ग्रन्थ वैशाली के श्रावक ने लोक सान्त है या अनन्त है, जीव सान्त है या अनन्त है, सिद्धि सान्त है या अनन्त है, किस प्रकार का मरण पाकर जीव संसार को घटाता है और बढ़ाता है—इन प्रश्नों के उत्तर चाहे। प्रश्न सुनकर आर्य स्कन्दक सकपका गये। वे भगवान् महावीर के चरणों में पहुँचे। सर्वज्ञ सर्वदर्शी महावीर ने स्कन्दक को सम्बोधित कर

कहा–उपर्युक्त प्रश्न पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुमसे पूछे और उनका सही समाधान पाने के लिये तुम मेरे पास उपस्थित हुए हो। उनका समाधान इस प्रकार है–

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से लोक चार प्रकार का है। द्रव्य की अपेक्षा वह एक और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा असंख्य कोटाकोटि योजन आयाम-विष्कम्भ वाला है। इसकी परिधि असंख्य कोटा-कोटि योजन है, इसका अन्त है। काल की अपेक्षा यह किसी दिन नहीं था ऐसा नहीं है, किसी दिन नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं है। वह तीनों कालों में रहेगा और इसका अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा यह अनन्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श पर्यव रूप है। अनन्त संस्थान पर्यव, अनन्त गुरुलघु पर्यव और अनन्त अगुरुलघु पर्यव रूप है। द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा लोक सान्त है, काल और भाव की अपेक्षा यह अनन्त है। इस प्रकार लोक सान्त भी है और अनन्त भी।

जीव के सम्बन्ध में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चिन्तन किया जाय तो द्रव्य की दृष्टि से जीव एक और सान्त है, क्षेत्र की दृष्टि से वह असंख्यात प्रदेशी और सान्त है। काल की दृष्टि से वह अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा अतः नित्य है, उसका कभी अन्त नहीं। भाव की दृष्टि से वह अनन्त ज्ञान पर्यव रूप है यावत् अनन्त अगुरुलघु पर्यव रूप है। इसका अन्त नहीं है। इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से जीव अन्तयुक्त है। काल और भाव का दृष्टि से अन्तरहित है।

मोक्ष के सम्बन्ध में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जानना होगा। द्रव्य की दृष्टि से मोक्ष एक है और सान्त है। क्षेत्र की दृष्टि से पैंतालीस लाख योजन आयाम-विष्कम्भ वाला है और इसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनपचास योजन से कुछ अधिक है। इसका अन्त है। काल की दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि किसी दिन मोक्ष नहीं था, नहीं है, नहीं रहेगा। भाव की अपेक्षा से यह अन्त-रहित है। द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से मोक्ष अन्तयुक्त है तथा काल और भाव की अपेक्षा से अन्तरहित है।

इसी तरह सिद्ध अन्तयुक्त है या अन्तरहित है ? इसके उत्तर हैं– द्रव्य की दृष्टि से सिद्ध एक है और अन्तयुक्त है। क्षेत्र की दृष्टि से सिद्ध असंख्य प्रदेश-अवगाढ़ होने पर भी अन्तयुक्त है। काल की दृष्टि से सिद्ध की आदि तो है पर अन्त नहीं है। भाव की दृष्टि से सिद्ध ज्ञानदर्शन पर्यव रूप है और उसका अन्त नहीं है।

इसी तरह भगवान् महावीर ने मरण के भी दो प्रकार बताये–१. बालमरण और २. पण्डितमरण। बालमरण के बारह प्रकार हैं। बालमरण से मर कर जीव चतुर्गत्यात्मक संसार की अभिवृद्धि करता है और पण्डितमरण से मर कर जीव दीर्घ संसार को सीमित कर देते हैं।

इन प्रश्नों का विस्तार से उत्तर सुनकर आर्य स्कन्दक अत्यन्त आह्लादित हुए और उन्होंने भगवान् महावीर के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

जब हम महावीरयुग का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि उस युग में इस प्रकार के प्रश्न दार्शनिकों के मस्तिष्क को झकझोर रहे थे और वे यथार्थ समाधान पाने के लिये मूर्धन्य मनीषियों के पास पहुँचते थे। तथागत बुद्ध के पास भी इस प्रकार के प्रश्न लेकर अनेक जिज्ञासु पहुँचते रहे, पर तथागत बुद्ध उन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टालते रहते थे। मज्झिमनिकाय,[२०१] में जिन प्रश्नों को तथागत ने अव्याकृत कहा था, वे ये हैं–

१. क्या लोक शाश्वत है ? २. क्या लोक अशाश्वत है ? ३. क्या लोक अन्तमान है ? ४. क्या लोक अनन्त है ? ५. क्या जीव और शरीर एक है ? ६. क्या जीव और शरीर भिन्न हैं ? ७. क्या मरने के बाद तथागत नहीं होते ? ८. क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते ? ९. क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं और न नहीं होते हैं ?

इन प्रश्नों के उत्तर में विधान के रूप में बुद्ध ने कुछ भी नहीं कहा है। उनके मन में सम्भवतः यह विचार रहा होगा कि यदि मैं लोक और जीव को नित्य कहता हूँ तो उपनिषद् का शाश्वतवाद मुझे मानना पड़ेगा। यदि मैं अनित्य कहता हूँ तो चार्वाक का भौतिकवाद स्वीकार करना पड़ेगा। उन्हें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों पसन्द नहीं थे, इसीलिये ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत, स्थापित, प्रतिक्षिप्त कह दिया कि लोक अशाश्वत हो या शाश्वत, जन्म है ही, मरण है ही। मैं तो इन्हीं जन्म-मरण के विघात को बताता हूँ। यही मेरा व्याकृत है और इसी में तुम्हारा हित है। इस तरह बुद्ध ने अशाश्वतानुच्छेदवाद स्वीकार किया है। इसका भी यह कारण था कि उस युग में जो वाद थे, उन वादों में उनको दोष दृग्गोचर हुए। अतएव किसी वाद का अनुयायी होना उन्हें श्रेयस्कर नहीं लगा।[२०२] पर महावीर ने उन वादों के गुण और दोष दोनों देखे। जिस वाद में जितनी सचाई थी उतनी मात्रा में स्वीकार कर, सभी वादों का समन्वय करने का प्रयास किया। तथागत बुद्ध जिन प्रश्नों का उत्तर विधि रूप में देना पसन्द नहीं करते थे, उन सभी प्रश्नों के उत्तर भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद के रूप में प्रदान

किये। प्रत्येक वाद के पीछे क्या दृष्टिकोण रहा हुआ है, उस वाद की मर्यादा क्या है ? इस बात को नयवाद के रूप में दार्शनिकों के सामने प्रस्तुत किया। तथागत बुद्ध ने लोक की सान्तता और अनन्तता दोनों को अव्याकृत कोटि में रखा है, जब कि भगवान् महावीर ने लोक को सान्त और अनन्त अपेक्षाभेद से बताया।

इसी तरह लोक शाश्वत है या अशाश्वत है ? यह प्रश्न भगवतीसूत्र, शतक ९, उद्देशक ६ में गणधर गौतम ने जमाली से पूछा। प्रश्न सुनकर जमाली सकपका गये। तब भगवान् महावीर ने कहा–लोक शाश्वत है और अशाश्वत भी है। तीनों कालों में ऐसा एक भी समय नहीं जब लोक किसी न किसी रूप में न हो। अतः वह शाश्वत है। लोक हमेशा एक रूप नहीं रहता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कारण अवनति और उन्नति होती रहती है। इसलिये वह अशाश्वत भी है। भगवान् महावीर ने लोक को पंचास्तिकाय रूप माना। जीव और शरीर के भेदाभेद पर भी अनेकान्तवाद की दृष्टि से जो समाधान किया है, वह भी अपूर्व है। उन्होंने आत्मा को शरीर से भिन्न और अभिन्न दोनों कहा है।

किन्तु बुद्ध इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट नहीं हो सके। उनका अभिमत था कि यदि शरीर को आत्मा से भिन्न मानते हैं तब ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं, यदि अभिन्न मानते हैं तो भी ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं। इसलिये दोनों अन्तों को छोड़कर उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया।[२०१] तथागत बुद्ध का यह चिन्तन था कि यदि आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न माना जाये तो फिर उसे कायकृत कर्मों का फल नहीं मिलना चाहिये। अत्यन्त भेद मानने पर अकृतागम दोष की आपत्ति है। यदि अत्यन्त अभिन्न मानें तो जब शरीर को जला कर नष्ट कर देते हैं तो आत्मा भी नष्ट हो जायेगा। जब आत्मा नष्ट हो गया है तो परलोक सम्भव नहीं है। इस तरह कृतप्रणाश दोष की आपत्ति होगी। इन दोषों के बचने के लिये उन्होंने भेद और अभेद दोनों पक्ष ठीक नहीं माने।

पर महावीर ने इन दोनों विरोधी वादों का समन्वय किया। एकान्त भेद और एकान्त अभेद मानने पर जिन दोषों का सम्भावना थी, वे दोष उभयवाद मानने पर नहीं होते। जीव और शरीर का भेद मानने का कारण यही है। शरीर नष्ट होने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में रहती है। सिद्धावस्था में जो आत्मा है, वह शरीरमुक्त है। आत्मा और शरीर का जो अभेद माना

गया है, उसका कारण यह है कि संसार-अवस्था में आत्मा और शरीर नीर-क्षीर-वत् रहता है। इसलिये शरीर से किसी भी वस्तु का संस्पर्श होने पर अत्मा में भी संवेदन होता है और कायकर्म का विपाक आत्मा में होता है।२०४

चार्वाक दर्शन शरीर को ही आत्मा मानता था तो उपनिषद् काल के ऋषिगण आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न मानते थे। पर महावीर ने उन दोनों भेद और अभेद पक्षों का अनेकान्त दृष्टि से समन्वय कर दार्शनिकों के सामने समन्वय का मार्ग प्रस्तुत किया।

इसी प्रकार जीव की सान्तता और अनन्तता के प्रश्न पर भी बुद्ध का मन्तव्य स्पष्ट नहीं था। यदि काल की दृष्टि से सान्तता और अनन्तता का प्रश्न हो तो अव्याकृत मत से समाधान हो जाता है पर द्रव्य या क्षेत्र की दृष्टि से जीव की सान्तता और निरन्तता के विषय में उनके क्या विचार थे, इस सम्बन्ध में त्रिपिटक साहित्य मौन है; जबकि भगवान् महावीर ने जीव की सान्तता, निरन्तता के सम्बन्ध में अपने स्पष्ट विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अभिमतानुसार जीव एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में है। वह द्रव्य् से सान्त है, क्षेत्र से सान्त है, काल से अनन्त है और भाव से अनन्त है। इस तरह जीव सान्त भी है, अनन्त भी है। काल की दृष्टि से और पर्यायों की अपेक्षा से उसका कोई अन्त नहीं पर वह द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से सान्त है।

उपनिषद् का आत्मा के सम्बन्ध में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के मन्तव्य का भगवान् महावीर ने निराकरण किया है। क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा की व्यापकता को भगवान् महावीर ने स्वीकार नहीं किया है और एक ही आत्मद्रव्य सब कुछ है, यह भी भगवान् महावीर का मन्तव्य नहीं है। उनका मन्तव्य है कि आत्मद्रव्य और उसका क्षेत्र मर्यादित है। उन्होंने क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा को सान्त कहते हुए भी काल की दृष्टि से आत्मा को अनन्त कहा है। भाव की दृष्टि से भी आत्मा अनन्त है क्योंकि जीव की ज्ञानपर्यायों का कोई अन्त नहीं है और न दर्शन और चारित्र पर्यायों का ही कोई अन्त है। प्रतिपल-प्रतिक्षण नई-नई पर्यायों का आविर्भाव होता रहता है और पूर्व पर्याय नष्ट होते रहते हैं। इसी प्रकार सिद्धि के सम्बन्ध में भी भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि से उत्तर देकर एक गम्भीर दार्शनिक समस्या का सहज समाधान किया है। ■

मृत्यु : एक कला (समाधि-मरण)

मृत्यु एक कला है। इस कला के सम्बन्ध में जैन मनीषियों ने विस्तार से विश्लेषण किया है। जैन मनीषियों ने मरण के दो प्रकार बताये—बालमरण और पण्डितमरण। दूसरे शब्दों में उसे असमाधिमरण और समाधिमरण भी कह सकते हैं। एक ज्ञानी की मृत्यु है, दूसरी अज्ञानी की मृत्यु है। अज्ञानी विषयासक्त होता है। वह मृत्यु से कांपता है। उससे बचने के लिए वह अहर्निश प्रयास करता है, पर मृत्यु उसका पीछा नहीं छोड़ती। पर ज्ञानी मृत्यु का आलिंगन करने के लिए सदा तत्पर रहता है। उसकी शरीर के प्रति आसक्ति नहीं होती। वह समभाव से मृत्यु को वरण करता है। उस मरण में किंचिन्मात्र भी कषाय नहीं होता। जब साधक देखता है कि अब शरीर साधना करने में सक्षम नहीं रहा है तब वह निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करता है।

बालमरण के प्रस्तुत आगम में जो बारह प्रकार प्रतिपादित हैं उनमें कषाय की मात्रा की प्रधानता है। क्रोध, अहंकार आदि के कारण ही वह मृत्यु को स्वीकार करता है। उस मृत्यु को स्वीकार करने पर भी मृत्यु की परम्परा समाप्त नहीं होती प्रत्युत वह परम्परा लम्बी होती चली जाती है। पण्डितमरण में साधक समस्त प्राणियों से सर्वप्रथम क्षमायाचना करता है। गृहीत व्रतों में यदि असावधानीवश स्खलनाएं हुई हों तो उन दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। पापस्थानकों का परित्याग कर प्रसन्नतापूर्वक वह मरण स्वीकार किया जाता है। मरण काल में चाहे कितने ही कष्ट आएँ, साधक उनको समभावपूर्वक सहन करता है। यह पण्डितमरण आत्महत्या नहीं है पर मृत्यु को वरण करने की श्रेष्ठ कला है।

संयुत्तनिकाय में असाध्य रोग से संत्रस्त भिक्षु वक्कलि कुलपुत्र[२०५] व भिक्षु छन्न[२०६] ने आत्महत्या की। तथागत बुद्ध ने उन दोनों भिक्षुओं को निर्दोष कहा और यह बताया कि दोनों भिक्षु परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं। जापान में रहने वाले बौद्धों में हरीकरी की प्रथा आज भी प्रचलित है। पर जैनपरम्परा और बौद्ध परम्परा के मृत्यु-वरण में अन्तर है। बौद्धपरम्परा में शस्त्रवध से तत्काल या उसी क्षण मृत्यु प्राप्त करना श्रेष्ठ माना है, जबकि जैनपरम्परा में इस प्रकार मृत्यु को वरण करना उचित नहीं माना गया है।

वैदिकपरम्परा में भी स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण को सर्वश्रेष्ठ माना है। मनुस्मृति,[२०७] याज्ञवल्क्यस्मृति,[२०८] गौतम स्मृति,[२०९] वशिष्ठधर्मसूत्र[२१०] और आपस्तम्बसूत्र[२११] आदि के अनुसार प्रायश्चित्त के निमित्त मृत्यु को वरण करना चाहिए। महाभारत के अनुशासनपर्व,[२१२] वनपर्व[२१३] और मत्स्यपुराण[२१४] आदि के अनुसार अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या अनशन आदि के द्वारा देहत्याग किया जाता है तो ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा ने जो विविध साधन मृत्युवरण के बताये हैं वहाँ पर जैन परम्परा में उपवास आदि से ही मृत्यु को वरण करना श्रेयस्कर माना है। ब्रह्मचर्य आदि की सुरक्षा के लिये तात्कालिक मृत्युवरण के कुछ प्रसंग जैन साहित्य में आये हैं, पर मुख्य रूप से इस प्रकार के मरण को आत्महत्या ही माना है और उसकी आलोचना भी जैन मनीषियों ने यत्र-तत्र की है। जैन परम्परा में जीवन की आशा और मृत्यु की आशा दोनों को ही अनुचित माना है। समाधिमरण में न तो मरण की आकांक्षा होती है और न आत्महत्या ही होती है। आत्महत्या या तो क्रोध के कारण या सम्मान अथवा अपने हित पर गहरा आघात लगता है तब व्यक्ति निराशा के झूले में झूलने लगता है और वह आत्महत्या के लिये प्रस्तुत होता है। समाधिमरण में आहारादि के त्याग से देह-पोषण का त्याग किया जाता है। मृत्यु उसका परिणाम है पर उसमें मृत्यु की आकांक्षा नहीं है। जिस प्रकार फोड़े की चीर-फाड़ से वेदना अवश्य होती है पर वेदना की आकांक्षा नहीं होती। समाधिमरण की क्रिया मरण के लिए न होकर उसके प्रतीकार के लिए है, जैसे व्रण का चीरना वेदना के लिए न होकर वेदना के प्रतीकार के लिए है। यही समाधिमरण और आत्महत्या में अन्तर है। समाधिमरण में भगोड़े की तरह भागना नहीं है अपितु संयम की ओर अग्रसर होना है। आत्महत्या में जीवन से भय होता है पर समाधिमरण में मृत्यु से भय नहीं होता। आत्महत्या असमय में मृत्यु का आमंत्रण है किन्तु समाधिमरण में मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष स्वागत है। आत्महत्या के पीछे भय या कामना रही हुई होती है जबकि समाधिमरण में भय और कामना का अभाव रहता है।

कितने ही आलोचक जैनदर्शन की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि जैनदर्शन जीवन से इकरार नहीं अपितु इनकार करता है। पर उनकी यह आलोचना भ्रान्त है। जैनदर्शन ने जीवन के मिथ्यामोह से इनकार किया है।

जो जीवन स्व और पर की साधना में उपयोगी है वही जीवन सर्वतोभावेन संरक्षणीय है। क्योंकि जीवन का लक्ष्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सिद्धि करना है। यदि मरण से भी ज्ञानादि की सिद्धि है तो वह शिरसा श्लाघनीय[२१५] है।

इस प्रकार प्रस्तुत कथानक में गम्भीर विषय की चर्चा प्रस्तुत की गई है। आर्य स्कन्दक जिज्ञासा का समाधान होने पर भगवान् महावीर के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर समाधिमरण प्राप्त कर अच्युत कल्प में देव बने और वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्त होंगे।

ईशानेन्द्र

भगवतीसूत्र, शतक ३, उद्देशक १ में देवराज ईशानेन्द्र का मधुर प्रसंग आया है। ईशानेन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि भगवान् महावीर प्रभु राजगृह में पधारे हैं। वह भगवान् के दर्शन के लिये पहुँचा और उसने ३२ प्रकार के नाटक किये। गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि यह दिव्य देवऋद्धि ईशानेन्द्र को किस प्रकार प्राप्त हुई है ? भगवान् ने समाधान किया कि यह पूर्वभव में ताम्रलिप्ति नगर में तामली मौर्यवंशी गृहस्थ था। उसने प्राणामा नाम की दीक्षा ग्रहण की और निरन्तर छठ-छठ तप के साथ सूर्य के सामने आतापना ग्रहण करता और पारणे के दिन लकड़ी का पात्र लेकर पके हुए चावल लाता और २१ बार उन्हें धोकर ग्रहण करता। वह सभी को नमस्कार करता। उसकी चिरकाल तक यह साधना चलती रही। अन्त में दो महीने का अनशन किया। जब उसका अनशन व्रत चल रहा था तब असुरकुमार देवों ने विविध रूप बनाकर उसे अपना इन्द्र बनने का संकल्प करने के लिये प्रेरित किया पर वह तपस्वी विचलित नहीं हुआ और वहाँ से मर कर ईशानेन्द्र हुआ है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने लिखा है कि तामली तापस ने साठ हजार वर्ष तक तप की आराधना की थी। पर वह साधना विवेक के आलोक में नहीं हुई थी। यदि उतनी साधना एक विवेकी साधक करता तो उतनी साधना से सात जीव मोक्ष में चले जाते। पर वह ईशानेन्द्र ही हुआ।

प्रस्तुत प्रकरण में ३२ प्रकार के नाट्य बताये हैं। नाटक के सम्बन्ध में हम राजप्रश्नीयसूत्र के विश्लेषण में विस्तार से लिख चुके हैं।

चमरेन्द्र

भगवतीसूत्र, शतक ३, उद्देशक २ में असुरराज चमरेन्द्र का उल्लेख है जो भगवान् महावीर की शरण लेकर प्रथम सौधर्म देवलोक में पहुँचा और शक्रेन्द्र ने उस पर वज्र का प्रयोग किया। यह दस आश्चर्यों में एक आश्चर्य रहा।

शिवराजर्षि

भगवतीसूत्र, शतक ११, उद्देशक ९ में शिवराजर्षि का वर्णन है। वे जीवन के उषाकाल में दिशाप्रोक्षक तापस बने थे। निरन्तर षष्ठ भक्त यानी बेले का तपस्या करते थे। उनके तापस जीवन की आचारसंहिता का निरूपण प्रस्तुत आगम में विस्तार के साथ हुआ है। दिक्चक्रवाल तप से शिवराजर्षि को विभंगज्ञान हुआ जिससे वे सात द्वीप और सात समुद्रों को निहारने लगे। उन्होंने यह उद्घोषणा की कि सात समुद्र और सात द्वीप ही इस विराट् विश्व में हैं। उसकी यह चर्चा सर्वत्र प्रसारित हो गई। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान् महावीर ने कहा–असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। जब भगवान् महावीर की यह बात शिवराजर्षि ने सुनी तो विस्मित हुए। उनका अज्ञान का पर्दा हट गया। उन्होंने भगवान् महावीर के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को महान् बनाया।

प्रस्तुत कथानक में सात द्वीप और सात समुद्र की मान्यता का उल्लेख हुआ है। यह मान्यता उस युग में अनेक व्यक्तियों की थी। इस मिथ्या मान्यता का निरसन भगवान् महावीर ने किया और यह स्थापना की कि असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं और अन्तिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण समुद्र है। स्वयंभूरमण समुद्र का अन्तिम छोर अलोक के प्रारम्भ तक है।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि स्कन्दक परिव्राजक, पुद्गल परिव्राजक और शिवराजर्षि ये तीनों वैदिकपरम्परा के परिव्राजक थे। उन्होंने श्रमण परम्परा को ग्रहण किया। साथ ही उस युग में जो ज्वलंत प्रश्न जनमानस में घूम रहे थे, उन प्रश्नों का सर्वज्ञ सर्वदर्शी महावीर ने स्पष्ट समाधान कर दार्शनिक जगत् को एक नई दृष्टि प्रदान की।

■

कालद्रव्य : एक चिन्तन

भगवतीसूत्र, शतक ११, उद्देशक ११ में सुदर्शन सेठ का वर्णन है। वह वाणिज्यग्राम का रहने वाला था। उसने भगवान् महावीर से पूछा कि काल कितने प्रकार का है ? भगवान् ने कहा कि काल के चार प्रकार हैं– प्रमाणकाल, यथायुरनिवृत्तिकाल, मरणकाल और अद्धाकाल। इन चार प्रकारों में प्रमाण काल के दिवसप्रमाण काल और रात्रिप्रमाण काल ये दो प्रकार हैं। इस काल में भी दक्षिणायन और उत्तरायण होने पर दिन-रात्रि का समय कम-ज्यादा होता रहता है। दूसरा काल है, यथायुरनिवृत्ति काल अर्थात् नरक, मनुष्य, देव, और तिर्यञ्च ने जैसा आयुष्य बांधा है उसका पालन करना। तीसरा काल है–मरणकाल। शरीर से जीव का पृथक् होना मरणकाल है। चतुर्थ काल है–अद्धाकाल। वह एक समय से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक संख्यात काल है और उसके बाद जिसको बताने के लिये उपमा आदि का प्रयोग किया जाय जैसे–पल्योपम, सागरोपम आदि वह असंख्यात काल है। जिसको उपमा के द्वारा भी न कहा जा सके, वह अनन्त है।

काल के सम्बन्ध में जैनसाहित्य में विस्तार से विवेचन है। वहाँ पर विभिन्न नयापेक्षया दो मत हैं। एक मत के अनुसार काल एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। काल जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय-प्रवाह है। इस दृष्टि से जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय-परिणमन ही उपचार से काल कहलाता है। इसलिए जीव और अजीव द्रव्य को ही काल द्रव्य जानना चाहिये। द्वितीय मतानुसार जीव और पुद्गल जिस प्रकार स्वतन्त्र द्रव्य हैं, वैसे ही काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है। भगवती,[२१६] उत्तराध्ययन,[२१७] जीवाजीवाभिगम,[२१८] प्रज्ञापना,[२१९] आदि में काल सम्बन्धी दोनों मान्यताओं का उल्लेख है। उसके पश्चात् आचार्य उमास्वाति,[२२०] सिद्धसेन दिवाकर,[२२१] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण,[२२२] हरिभद्रसूरि,[२२३] आचार्य हेमचन्द्र,[२२४] उपाध्याय यशोविजय जी,[२२५] विनय-विजय जी,[२२६] देवचन्द्र जी,[२२७] आदि श्वेताम्बर विज्ञों ने तीनों पक्षों का उल्लेख किया है किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द,[२२८] पूज्यपाद,[२२९] भट्टारक अकलंकदेव,[२३०] विद्यानन्द स्वामी[२३१] आदि ने केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है। वे काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

प्रथम मत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो भी व्यवहार काल-साध्य हैं वे सभी पर्याय-विशेष के संकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया-विशेष है जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के बिना होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्याय रूप में स्वतः ही परिणत हुआ करते हैं अतः जीव-अजीव के पर्याय-पुंज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने-आप में कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।[२३२]

द्वितीय मत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वयं ही गति करते हैं और स्वयं ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और स्थिति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं, वैसे ही जीव और अजीव में पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्तकारण रूप काल द्रव्य को मानना चाहिए।[२३३]

उक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व ये काल के उपकारक हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। उसका व्यवहार पदार्थों की स्थिति आदि के लिए होता है।

निश्चय दृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। उसे जीव और अजीव के पर्यायरूप मानने से ही सभी कार्य व सभी व्यवहार सम्पन्न हो सकते हैं। व्यवहार की दृष्टि से ही उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है और उसे पृथक् द्रव्य गिनाया गया है[२३४] एवं उसे जीवाजीवात्मक भी कहा है।[२३५]

वेद व उपनिषदों में काल शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है, किन्तु वैदिक महर्षियों का काल के सम्बन्ध में क्या मन्तव्य है, यह स्पष्ट नहीं होता। वैशेषिकदर्शन का यह मन्तव्य है कि काल द्रव्य है, नित्य है, एक है और सम्पूर्ण कार्यों का निमित्त है।[२३६] न्यायदर्शन में काल के सम्बन्ध में वैशेषिकदर्शन का ही अनुसरण किया गया है।[२३७] पूर्वमामांसा के प्रणेता जैमिनि ने काल तत्त्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है तथापि पूर्वमीमांसा के समर्थ व्याख्याकार पार्थसारथी मिश्र की शास्त्रदीपिका पर युक्ति-स्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका[२३८] में पण्डित रामकृष्ण ने काल तत्त्व सम्बन्धी मीमांसक मत का प्रतिपादन करते हुए वैशेषिकदर्शन की काल की मान्यता को स्वीकार किया है, पर अन्तर यह है कि

वैशेषिकदर्शन काल को परोक्ष मानता है तो मीमांसक दर्शन काल को प्रत्यक्ष मानता है। इस तरह वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। सांख्यदर्शन ने प्रकृति और पुरुष को ही मूल तत्त्व माना है और आकाश, दिशा, मन आदि को प्रकृति का विकार माना है।[२३९] सांख्यदर्शन में काल नामक कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है पर एक प्राकृतिक परिणमन है। प्रकृति नित्य होने पर भी परिणमनशील है, यह स्थूल और सूक्ष्म जड़ प्रकृति का ही विकार है।

योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में कहीं भी काल तत्त्व के सम्बन्ध में सूचन नहीं किया है। पर योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने तृतीय पाद के बावनवे सूत्र पर भाष्य करते हुए काल तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—मुहूर्त, प्रहर, दिवस आदि लौकिक कालव्यवहार बुद्धिकृत और काल्पनिक हैं। कल्पना से बुद्धिकृत छोटे और बड़े विभाग किये जाते हैं। वे सभी क्षण पर अवलंबित हैं। क्षण ही वास्तविक है परन्तु मूल तत्त्व के रूप में नहीं है। किसी भी मूल तत्त्व के परिणाम रूप में वह सत्य है। जिस परिणाम का बुद्धि से विभाग न हो सके वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम क्षण है। उस क्षण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बताया है कि एक परमाणु को अपना क्षेत्र छोड़कर दूसरा क्षेत्र प्राप्त करने में जितना समय व्यतीत होता है उसे क्षण कहते हैं। यह क्रिया के अविभाज्य अंश का संकेत है। योगदर्शन में सांख्यदर्शन सम्मत जड़ प्रकृति तत्त्व को ही क्रियाशील माना है। उसकी क्रियाशीलता स्वाभाविक है, अतः उसे क्रिया करने में अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। उससे योगदर्शन और सांख्यदर्शन क्रिया के निमित्त कारण रूप में वैशेषिकदर्शन के समान काल तत्त्व को प्रकृति से भिन्न या स्वतन्त्र नहीं मानता।[२४०]

उत्तरमीमांसादर्शन वेदान्तदर्शन और औपनिषदिक दर्शन के नाम से विश्रुत है। इस दर्शन के प्रणेता बादरायण ने कहीं भी अपने ग्रन्थ में कालतत्त्व के सम्बन्ध में वर्णन नहीं किया है, किन्तु प्रस्तुत दर्शन के समर्थ भाष्यकार आचार्य शंकर ने मात्र ब्रह्म को ही मूल और स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार किया है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' इस सिद्धान्त के अनुसार तो आकाश, परमाणु आदि किसी भी तत्त्व को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदान्तदर्शन के अन्य व्याख्याकार रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ आदि कितने ही मुख्य विषयों में आचार्य शंकर

से अलग विचारधारा रखते हैं। उनकी पृथक् विचारधारा का केन्द्र आत्मा का स्वरूप, विश्व की सत्यता और असत्यता है। पर किसी ने भी कालतत्त्व को स्वतन्त्र नहीं माना है। इसमें सभी वेदान्तदर्शन के व्याख्याकार एकमत हैं। इस प्रकार सांख्य, योग और उत्तरमीमांसा ये अस्वतन्त्र कालतत्त्ववादी हैं। जैनदर्शन में जैसे काल तत्त्व के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं वैसे ही वैदिक दर्शन में भी एक स्वतन्त्र कालतत्त्ववादी हैं तो दूसरे अस्वतन्त्र कालतत्त्ववादी हैं।

बौद्धदर्शन में काल केवल व्यवहार के लिए कल्पित है। काल कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्ति मात्र है[२४१] किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्यकाल के बिना नहीं हो सकते। जैसे कि बालक में शेर का उपचार मुख्य शेर के सद्भाव में ही होता है, वैसे ही सम्पूर्ण कालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्य के बिना नहीं हो सकते।

■

पौषध : एक चिन्तन

भगवतीसूत्र शतक १२ उद्देशक १ में शंख श्रावक का वर्णन है। वह श्रावस्ती का रहने वाला था तथा जीव आदि तत्त्वों का गम्भीर ज्ञाता था। उत्पला उसकी धर्मपत्नी थी। उसने भगवान् महावीर से अनेक जिज्ञासाएं कीं। समाधान पाकर वह परम संतुष्ट हुआ। अन्य प्रमुख श्रावकों के साथ वह श्रावस्ती की ओर लौट रहा था। उसने अन्य श्रमणोपासकों से कहा कि भोजन तैयार करें और हम भोजन करके फिर पाक्षिक पौषध आदि करेंगे। उसके पश्चात् शंख श्रावक ने ब्रह्मचर्यपूर्वक चन्दनविलेपन आदि को छोड़कर पौषधशाला में पौषध स्वीकार किया। पौषध का अर्थ है अपने निकट रहना। पर-स्वरूप से हटकर स्व-स्वरूप में स्थित होना। साधक दिन भर उपासनागृह में अवस्थित होकर धर्मसाधना करता है। यह साधना दिन-रात की होती है। उस समय सभी प्रकार के अन्न-जल-मुखवास-मेवा आदि चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, कामभोग का त्याग तथा रजत-स्वर्ण, मणि-मुक्ता आदि बहुमूल्य आभूषणों का त्याग, माल्य-गंध धारण का त्याग, हिंसक उपकरणों एवं समस्त दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है। जैन परम्परा में इस व्रत की आराधना व्रती श्रमणोपासक प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को करता है।

बौद्ध परम्परा में भी गृहस्थ उपासक के लिए उपोसथ व्रत आवश्यक माना गया है। सुत्तनिपात में लिखा है कि प्रत्येक पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रतिहार्य पक्ष को इस अष्टांग उपोसथ का श्रद्धापूर्वक सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए।[२४२] सुत्तनिपात में उपोसथ के नियम बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं–१. प्राणीवध न करे, २. चोरी न करे, ३. असत्य न बोले, ४. मादक द्रव्य का सेवन न करे, ५. मैथुन से विरत रहे, ६. रात्रि में, विकाल में भोजन न करे, ७. माल्य एवं गंध का सेवन न करे, ८. उच्च शय्या का परित्याग कर जमीन पर शयन करे। ये आठ नियम उपोसथ-शील कहे जाते हैं।[२४३]

तुलनात्मक दृष्टि से जब हम इन नियमों का अध्ययन करते हैं तो दोनों ही परम्पराओं में बहुत कुछ समानता है। जैन परम्परा में भोजन सहित जो पौषध किया जाता है, उसे देशावकासिक व्रत कहा है। बौद्ध प्ररम्परा में

उपोसथ में विकाल भोजन का परित्याग है जबकि जैन परम्परा में सभी प्रकार के आहार न करने का विधान है। अन्य जो बातें हैं, वे प्रायः समान हैं। पौषध-व्रत के पीछे एक विचारदृष्टि रही है, वह यह कि गृहस्थ साधक जिसका जीवन अहर्निश प्रपञ्चों से घिरा हुआ है वह कुछ समय निकाल कर धर्म-आराधना करे। ईसा मसीह ने दस आदेशों में एक आदेश यह दिया है कि सात दिन में एक दिन विश्राम लेकर पवित्र आचरण करना चाहिये।[२४४] सम्भव है यह आदेश एक दिन उपोसथ या पौषध की तरह ही रहा हो पर आज उसमें विकृति आ गई है। तथागत बुद्ध ने उपोसथ का आदर्श अर्हत्व की उपलब्धि बताया है। उन्होंने अंगुत्तरनिकाय में स्पष्ट शब्दों में कहा है–क्षीण आस्रव अर्हत् का यह कथन उचित है कि जो मेरे समान बनना चाहते हैं वे पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रतिहार्य पक्ष को अष्टांगशील युक्त उपोसथ व्रत का आचरण करें।[२४५] पण्डित सुखलालजी संघवी का यह अभिमत था कि उपोसथ व्रत आजीवक सम्प्रदाय और वेदान्त परम्परा में प्रकारान्तर से प्रचलित रहा है।[२४६] प्रस्तुत प्रकरण में पौषध के दोनों रूप उजागर हुए हैं। एक खा-पी कर पौषध करने का और दूसरा बिना खाए-पीए ब्रह्मचर्य की आराधना साधना करते हुए पौषध करने का।

■

विभज्यवाद : अनेकान्तवाद

भगवती शतक १२, उद्देशक २ में जयन्ती श्रमणोपासिका का वर्णन है। उसके भवनों में सन्त भगवन्त ठहरा करते थे। इसलिए वह शय्यातर के रूप में विश्रुत थी। जैनदर्शन का उसे गम्भीर परिज्ञान था। उसने भगवान महावीर से जीवन सम्बन्धी गम्भीर प्रश्न किये। भगवान् महावीर ने उन प्रश्नों के उत्तर स्याद्वाद की भाषा में प्रदान किये। सूत्रकृतांग में यह पूछा गया कि भिक्षु किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे? इस प्रसंग में कहा गया है कि विभज्यवाद का प्रयोग करे।[२४७] विभज्यवाद क्या है, इसका समाधान जैन टीकाकारों ने किया है–स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। नयवाद, अपेक्षावाद, पृथक्करण करके या विभाजन करके किसी तत्त्व का विवेचन करना।

मज्झिमनिकाय में शुभ माणवक के प्रश्न के उत्तर में तथागत बुद्ध ने कहा– हे माणवक ! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं।[२४८] माणवक ने तथागत से पूछा था कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता, इस पर आपकी क्या सम्मति है? इस प्रश्न का उत्तर हाँ या ना में न देकर बुद्ध ने कहा–गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाणमार्ग का आराधक नहीं हो सकता। यदि त्यागी भी मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं है। वे दोनों यदि सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हैं, तभी आराधक होते हैं। इस प्रकार के उत्तर देने के कारण ही तथागत अपने-आप को विभज्यवादी कहते थे। क्योंकि यदि वे ऐसा कहते कि गृहस्थ आराधक नहीं होता, केवल त्यागी ही आराधक होता है तो उनका वह उत्तर एकांशवाद होता, पर उन्होंने त्यागी या गृहस्थ की आराधना और अनाराधना का उत्तर विभाग करके दिया इसलिए तथागत बुद्ध ने अपने-आप को विभज्यवादी कहा है।

पर यह स्मरण रखना चाहिए कि बुद्ध ने सभी प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद के आधार से नहीं दिये हैं। कुछ ही प्रश्नों के उत्तर उन्होंने विभज्यवाद को आधार बनाकर दिये हैं। तथागत बुद्ध का विभज्यवाद बहुत ही सीमित क्षेत्र में रहा; पर महावीर के विभज्यवाद का क्षेत्र बहुत ही व्यापक रहा। आगे चलकर बुद्ध का विभज्यवाद एकान्तवाद में परिणत हो गया तो महावीर का विभज्यवाद व्यापक होता चला गया और वह अनेकान्तवाद के रूप में विकसित हुआ।[२४९] तथागत के विभज्यवाद की तरह

महावीर का विभज्यवाद भगवती में अनेक स्थलों पर आया है। जयन्ती के प्रश्नोत्तर विभज्यवाद के रूप को स्पष्ट करते हैं। अतः हम कुछ प्रश्नोत्तर दे रहे हैं–

जयंती– भंते ! सोना अच्छा है या जागना?

महावीर– कितनेक जीवों का सोना अच्छा है और कितनेक जीवों का जागना अच्छा है।

जयंती– इसका क्या कारण है?

महावीर– जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुगामी हैं, अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररञ्जन हैं, वे सोते रहें यही अच्छा है। क्योंकि जब वे सोते होंगे तो अनेक जीवों को पीड़ा नहीं देंगे। वे स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया में नहीं लगायेंगे। इसलिये उनका सोना श्रेष्ठ है। पर जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुगामी हैं, यावत् धार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका तो जागना ही अच्छा है। क्योंकि वे अनेक जीवों को सुख देते हैं। वे स्व, पर और उभय को धार्मिक अनुष्ठानों में लगाते हैं। अतः उनका जागना अच्छा है।

जयंती– भन्ते ! बलवान् होना अच्छा या दुर्बल होना?

महावीर– जयंती ! कुछ जीवों का बलवान् होना अच्छा है तो कुछ जीवों का दुर्बल होना अच्छा है।

जयंती– इसका क्या कारण है?

महावीर– जो अधार्मिक हैं या अधार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका दुर्बल होना अच्छा है। वे यदि बलवान् होंगे तो अनेक जीवों को दुख देंगे। जो धार्मिक हैं, धार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका सबल होना अच्छा है। वे सबल होकर अनेक जीवों को सुख पहुँचायेंगे।

इस प्रकार अनेक प्रश्नों के उत्तर विभाग करके भगवान् ने प्रदान किये। विभज्यवाद का मूल आधार विभाग करके उत्तर देना है। दो विरोधी बातों का स्वीकार एक सामान्य में करके उसी एक को विभक्त करके दोनों विभागों में दो विरोधी धर्मों को संगत बताना, यह विभज्यवाद का फलितार्थ है। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि दो विरोधी धर्म एक काल में किसी एक व्यक्ति के नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हैं। भगवान् महावीर ने

विभज्यवाद का क्षेत्र बहुत ही व्यापक बनाया। उन्होंने अनेक विरोधी धर्मों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से घटाया जिससे विभज्यवाद आगे चलकर अनेकान्तवाद के रूप में विश्रुत हुआ। अनेकान्तवाद विभज्यवाद का विकसित रूप है। विभज्यवाद का मूलाधार है, जो विशेष व्यक्ति हों उन्हीं में, तिर्यक् सामान्य की अपेक्षा से विरोधी धर्म को स्वीकार करना। अनेकान्तवाद का मूलाधार है, तिर्यक् और ऊर्ध्वता दोनों प्रकार के सामान्य पर्यायों में विरोधी धर्मों को अपेक्षाभेद से स्वीकार करना।

उदायन राजा

भगवतीसूत्र शतक १३, उद्देशक ६ में राजा उदायन का वर्णन है। उदायन ने भगवान् महावीर के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व उसने अपने पुत्र अभीचि कुमार को राज्य इसलिये नहीं दिया कि यह राज्य के मोह में मुग्ध होकर नरक आदि गतियों में दारुण वेदना का अनुभव करेगा। उसने अपने भाणेज केशी कुमार को राज्य दिया। अभीचि कुमार के अन्तर्मानस में पिता के इस कृत्य पर ग्लानि हुई। उसने अपना अपमान समझा। वह राज्य छोड़कर चल दिया। राजा उदायन तप की आराधना कर मोक्ष गये। पर अभीचि कुमार श्रावक बनने पर भी शल्य से मुक्त नहीं हो सका, जिससे वह असुर कुमार बना। राजा उदायन का जीवन-प्रसंग आवश्यकचूर्णि आदि में विशेष रूप से आया है। उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और उत्कृष्ट तप की आराधना करने से, रूक्ष और नीरस आहार ग्रहण करने से शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई। वैद्य के परामर्श से उपचार हेतु वीतभय नगर के ब्रज में रहे, जहाँ दही सहज में उपलब्ध था। दुष्ट मन्त्री ने राजा केशी को बताया कि भिक्षुजीवन से पीड़ित होकर ये राज्य के लोभ से यहाँ आये हैं और आपका राज्य छीन लेंगे। राज्यलोभी केशी राजा ने एक ग्वाले को दही में विष मिलाकर देने हेतु कहा। उसने वैसा ही किया। नगररक्षक देवों ने कुपित होकर धूल की भयंकर वर्षा की जिससे सारा नगर धूल के नीचे दब गया।[२५०] राजा उदायन के सम्बन्ध में हमने विस्तार से जैन कथासाहित्य की विकास यात्रा ग्रन्थ में लिखा है, अतः जिज्ञासु पाठकगण उसका अवलोकन करें।

■

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय : चिन्तन

भगवती शतक १८, उद्देशक ७ में मद्रुक श्रमणोपासक का वर्णन है। वह राजगृह नगर का निवासी था। राजगृह के बाहर गुणशील नामक एक चैत्य था। उसके सन्निकट ही कालोदायी, शैलोदायी, सेवालोदायी, उदय, नामोदय, नर्मोदय, अन्यपालक, शैलपालक, शंखपालक और सुहस्ती, अन्यतीर्थिक सद्गृहस्थ रहते थे। वे परस्पर यह चर्चा करने लगे कि भगवान् महावीर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन पंचास्तिकायों में एक को जीव और शेष को अजीव मानते हैं। पुद्गलास्तिकाय को रूपी और शेष को अरूपी मानते हैं। क्या इस प्रकार का कथन उचित है? यह बात उन्होंने मद्रुक से कही। मद्रुक ने कहा–जो कोई वस्तु कार्य करती है, आप उसे कार्य के द्वारा जानते हैं। यदि वह वस्तु कार्य न करे तो आप उसे नहीं जान सकते। ठुमक-ठुमक कर पवन चल रहा है पर आप उसके रूप को नहीं देख सकते। गन्धयुक्त पुद्गल की सौरभ हमें आती है पर हम उस गन्ध को देखते कहाँ हैं? अरणि की लकड़ी में अग्नि होने पर भी हम नहीं देखते। समुद्र के परले किनारे पदार्थ पड़े हुए हैं पर हम उन्हें देख नहीं पाते। यदि उन वस्तुओं को कोई नहीं देखता है तो वस्तु का अभाव नहीं हो जाता, वैसे ही आप जिन वस्तुओं को नहीं देखते, उनका अस्तित्व नहीं है, यह कहना उचित नहीं है। मद्रुक के अकाट्य तर्कों से अन्यतीर्थिक विस्मित हुए। मद्रुक ने भी भगवान् के चरणों में पहुँचकर श्रमणधर्म को स्वीकार किया और अपने जीवन को पावन बनाया।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि का निरूपण भारत के अन्य दार्शनिक साहित्य में नहीं हुआ है। यह जैनदर्शन की मौलिक देन है। जहाँ अन्य दर्शनों में धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों के अर्थ में किया गया है, वहाँ जैनदर्शन में वह गतिसहायक तत्त्व और स्थितिसहायक तत्त्व के अर्थ में भी व्यवहृत है। धर्म एक द्रव्य है। वह समग्र लोक में व्याप्त है, शाश्वत है। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से रहित है। वह जीव और पुद्गल की गति में सहायक है। यहाँ तक कि जीवों का आगमन, गमन, वार्तालाप, उन्मेष, मानसिक, वाचिक और कायिक आदि जितनी भी स्पन्दनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, वे धर्मास्तिकाय से ही होती हैं। उसके असंख्य प्रदेश

हैं। वह नित्य व अनित्य है, अवस्थित है और अरूपी है। नित्य का अर्थ तद्भावाव्यय है, गति क्रिया में सहायता देने रूप भाव से कदापि च्युत न होना धर्म का तद्भावाव्यय कहलाता है। अवस्थिति का अर्थ है– जितने असंख्य प्रदेश हैं, उन प्रदेशों का कम और ज्यादा न होना किन्तु हमेशा असंख्यात ही बने रहना। वर्ण, गंध, रस आदि का अभाव होने से धर्मास्तिकाय अरूपी है। धर्मास्तिकाय पूरा एक द्रव्य है। वह जीव आदि के समान पृथक् रूप से नहीं रहता, अपितु अखण्ड द्रव्य के रूप में रहता है एवं सम्पूर्ण लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ पर धर्म द्रव्य का अभाव हो। सम्पूर्ण लोकव्यापी होने से उसे अन्य स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं होती।

गति का तात्पर्य है–एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की क्रिया। धर्मास्तिकाय गति क्रिया में सहायक है। जिस प्रकार मछली स्वयं तैरती है, पर उसकी गति में पानी सहायक होता है। तैरने की शक्ति होने पर भी पानी के अभाव में मछली तैर नहीं सकती। जब मछली तैरना चाहती है तभी उसे पानी की सहायता लेनी पड़ती है। वैसे ही जीव और पुद्गल जब गति करता है, तभी धर्मास्तिकाय या धर्म द्रव्य की सहायता ली जाती है। जीव और पुद्गल में गति और स्थिति ये दोनों क्रियाएँ सहज रूप में होती हैं। इनका स्वभाव न केवल गति करना और न केवल स्थिति करना ही है। किसी समय किसी में गति होती है तो किसी समय किसी में स्थिति होती है। धर्म और अधर्म को मानना इसलिये आवश्यक है कि वह गति और स्थिति में निमित्त द्रव्य है। उसी से लोक और अलोक का विभाजन होता है। गति और स्थिति का उपादान कारण जीव और पुद्गल स्वयं है और निमित्तकारण धर्म और अधर्म द्रव्य है।

भगवतीसूत्र शतक १३, उद्देशक ४ में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! गतिसहायक तत्त्व से जीवों को क्या लाभ होता है? भगवान् ने समाधान दिया कि–गौतम ! गति का सहायक नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें किस प्रकार फैलती हैं? आँख किस प्रकार खुलती है? कौन मनन करता है? कौन बोलता है? कौन हिलता, डोलता है? यह विश्व अचल ही होता। जो चल हैं उन सब का आलम्बन तत्त्व गतिसहायक तत्त्व ही है।

गणधर गौतम ने पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! स्थिति का सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है? भगवान् ने समाधान करते हुए कहा–गौतम ! स्थिति का सहायक नहीं होता तो कौन खड़ा होता, कौन बैठता? किस प्रकार से सो सकता? कौन मन को एकाग्र करता ? कौन मौन करता? कौन निष्पंद बनता? निमेष कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उस सबका आलम्बन स्थितिसहायक तत्त्व ही है।

अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों में गति को तो यथार्थ माना गया है किन्तु गति के माध्यम के रूप में 'धर्म' जैसे किसी विशेष तत्त्व की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने 'ईथर' के रूप में गति-सहायक एक ऐसा तत्त्व माना है जिसका कार्य धर्म द्रव्य से मिलता-जुलता है। ईथर आधुनिक भौतिक विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शोध है। ईथर के सम्बन्ध में भौतिकविज्ञानवेत्ता डॉ. ए. एस. एडिंग्टन लिखते हैं– आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर भौतिक द्रव्य नहीं है, भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है, भूत में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणों का ईथर में अभाव होगा परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे .... ईथर का अभौतिक सागर।

अलबर्ट आइन्सटीन के अपेक्षावाद के सिद्धान्तानुसार 'ईथर' अभौतिक, अपरिमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है।

धर्मद्रव्य और ईथर पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करते हुए प्रोफेसर जी. आर. जैन लिखते हैं कि यह प्रमाणित हो गया कि जैन दर्शनकार व आधुनिक वैज्ञानिक यहाँ तक एक हैं कि धर्मद्रव्य या ईथर अभौतिक, अपरिमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का माध्यम और अपने आप में स्थिर है।

धर्म और अधर्म के बिना लोक व्यवस्था नहीं होती। गति-स्थिति निमित्तक द्रव्य से लोक-अलोक का विभाजन होता है। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त दोनों कारणों की आवश्यकता है। जीव और पुद्‌गल ये दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादान कारण जीव और पुद्‌गल स्वयं हैं। धर्म, अधर्म ये दोनों गति और स्थिति में सहायक हैं। इसलिए निमित्तकारण हैं। हवा स्वयं गतिशील है। पृथ्वी, पानी आदि सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं हैं पर गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है। अतः धर्म-अधर्म की सहज

आवश्यकता है। यह सत्य है कि लोक है, क्योंकि वह ज्ञानगोचर है। पर अलोक इन्द्रियातीत है। यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि अलोक है या नहीं? पर जब हम लोक का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तो सहज ही अलोक का अस्तित्व भी स्वीकार हो जाता है। जिसमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव, पुद्‌गल आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है। इसके विपरीत अलोक में केवल आकाश द्रव्य ही है। धर्म और अधर्म द्रव्य के अभाव में अलोक में जीव और पुद्‌गल भी नहीं है। काल की तो वहाँ अवस्थिति है ही नहीं।

प्रस्तुत प्रसंग से यह सहज परिज्ञात होता है कि महावीर युग में भगवान् महावीर के श्रमणोपासक तत्त्वविद् थे। वे अन्य तीर्थिकों को जैन दर्शन के गुरु-गम्भीर रहस्यों को समझाने में समर्थ थे। आज भी आवश्यकता है कि श्रमणोपासक श्रावक तत्त्वविद् बनें। जैनदर्शन के गम्भीर रहस्यों का अध्ययन कर स्वयं के जीवन को महान् बनाएँ तथा अन्य दार्शनिकों को भी जैनदर्शन का सही एवं विशुद्ध रूप बतायें।

■

पाप और उसका फल

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक १० में कालोदाई अन्यतीर्थिक ने गणधर गौतम से जिज्ञासा व्यक्त की थी। वही कालोदाई जब भगवान् के समोसरण में पहुँचा तो भगवान् महावीर ने पञ्चास्तिकाय का विस्तार से निरूपण कर उसके संशय को नष्ट किया। कालोदाई, स्कन्धक की भाँति श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित होते हैं। ग्यारह अंगों का अध्ययन कर जीवन की सांध्यवेला में संथारा कर मुक्त होते हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कालोदाई ने भगवान् महावीर से यह भी जिज्ञासा प्रस्तुत की थी पाप कर्म अशुभ फल वाला क्यों है? भगवान् महावीर ने समाधान दिया था कि कोई व्यक्ति सुन्दर सुसज्जित थाली में १८ प्रकार के शाक आदि से युक्त विष-मिश्रित भोजन करता है। वह विष-मिश्रित भोजन प्रारम्भ में सुस्वादु होने के कारण अच्छा लगता है पर उसका परिणाम ठीक नहीं होता। वैसे ही पाप कर्म का प्रारम्भ अच्छा लगता है परन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। दूसरा व्यक्ति विविध प्रकार की औषधियों से युक्त भोजन करता है। औषधियों के कारण वह भोजन कटु होता है पर वह भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकर होता है। वैसे ही शुभ कर्म प्रारम्भ में कठिन होते हैं पर उनका फल श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार इस कथानक में जीवन के लिए चिन्तनीय सामग्री प्रस्तुत की गई है।

सोमिल ब्राह्मण के विचित्र प्रश्न

भगवतीसूत्र शतक १८, उद्देशक १० में सोमिल ब्राह्मण का वर्णन है। वह वैदिक परम्परा का महान् ज्ञाता था। उसके अन्तर्मानस में जिगीषु वृत्ति पनप रही थी। वह चाहता था कि मैं शब्दजाल में भगवान् महावीर को उलझा कर निरुत्तर कर दूँ। इसी भावना से उसने भगवान् महावीर के सामने अपने प्रश्न प्रस्तुत किए–"क्या आप यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार करते हैं? आपकी यात्रा आदि क्या है?" उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा–तप, यम, संयम, स्वाध्याय और ध्यान आदि में रमण करता हूँ, यही मेरी यात्रा है। यापनीय के दो प्रकार हैं–इन्द्रिययापनीय, नोइन्द्रिययापनीय। पांचों इन्द्रियाँ मेरे अधीन हैं और क्रोध, मान आदि कषाय मैंने विच्छिन्न कर दिए हैं, इसलिए वे उदय में नहीं आते। इसलिए मैं इन्द्रिय और नो-इन्द्रिययापनीय हूँ। वात, पित्त, कफ, ये शरीर सम्बन्धी दोष मेरे उपशान्त हैं, वे उदय में नहीं आते। इसलिए मुझे अव्याबाध भी है। मैं आराम, उद्यान, देवकुल, सभास्थल, प्रभृति स्थलों पर जहाँ स्त्री, पशु और नपुंसक का अभाव हो, ऐसे निर्दोष स्थान पर आज्ञा ग्रहण कर विहार करता हूँ, यह मेरा प्रासुक (निर्दोष) विहार है।

सोमिल ने पुनः पूछा–'सरिसवया' भक्ष्य हैं या अभक्ष्य?

भगवान् महावीर ने समाधान दिया–सरिसवया शब्द के दो अर्थ हैं–सदृशवयससमवयस्क तथा दूसरा सरसों। सदृशवय के तीन प्रकार हैं–एक साथ जन्मे हुए, एक साथ पालित-पोषित हुए और एक साथ क्रीड़ा किए हुए। ये तीनों श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं और धान्य सरिसव भी दो प्रकार के हैं–शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरणित, शस्त्रपरिणत भी दो प्रकार के हैं–एषणीय और अनेषणीय। अनेषणीय अभक्ष्य हैं। एषणीय भी याचित और अयाचित रूप से दो प्रकार के हैं। याचित भक्ष्य हैं और अयाचित अभक्ष्य हैं।

सोमिल ने पुनः शब्दजाल फैलाते हुए कहा–'मास' भक्ष्य है या अभक्ष्य है? भगवान् ने समाधान की भाषा में कहा–मास याने महीना, और माष याने सोना-चाँदी आदि तोलने का माप। ये दोनों अभक्ष्य हैं और माष यानी उड़द, जो शस्त्रपरिणत हों, याचित हों, वे श्रमण के लिए भक्ष्य हैं।

सोमिल ने पुनः पूछा–'कुलत्था' भक्ष्य हैं या अभक्ष्य हैं? भगवान् ने फरमाया–कुलत्था शब्द के भी दो अर्थ हैं–एक कुलीन स्त्री (कुलस्था) और दूसरा अर्थ है धान्यविशेष (कुलस्थ)। जो धान्यविशेष कुलत्था हैं वह शस्त्रपरिणत एवं याचित हैं तो भक्ष्य हैं। कुलीन स्त्री अभक्ष्य है।

सोमिल ने देखा कि महावीर शब्द-जाल में फँस नहीं रहे हैं, अतः उसने एकता और अनेकता का प्रश्न उपस्थित किया कि आप एक हैं या दो हैं? अक्षय हैं, अव्यय हैं, अवस्थित हैं, अतीत, वर्तमान और भविष्य में परिणमन के योग्य हैं? भगवान् महावीर ने एकता और अनेकता का समन्वय करते हुए अनेकान्त दृष्टि से कहा–सोमिल ! मैं द्रव्यदृष्टि से एक हूँ। ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों के प्राधान्य से दो भी हूँ। सोमिल ! उपयोग स्वभाव की दृष्टि से मैं अनेक हूँ। इस प्रकार अपेक्षाभेद से एकत्व और अनेकत्व का समन्वय कर सोमिल को विस्मित कर दिया। वह चरणों में झुक पड़ा तथा श्रावक के १२ व्रतों को ग्रहण कर भगवान् महावीर का अनुयायी बना।

इस कथाप्रसंग से भगवान् महावीर की सर्वज्ञता का स्पष्ट निदर्शन होता है। आगमयुग की अनेकान्त दृष्टि भी इसमें स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। तीसरी बात इसमें 'मास' शब्द का प्रयोग हुआ है जो महीने के अर्थ में है। वह श्रावण महीने से प्रारम्भ होकर आषाढ़ पूर्णिमा में समाप्त होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि श्रावण प्रथम मास था और आषाढ़ वर्ष का अन्तिम मास था। प्रस्तुत प्रसंग में 'जवनिज्ज-यापनीय' शब्द का प्रयोग हुआ है। दिगम्बर परम्परा में यापनीय नामक एक संघ है जिसके प्रमुख आचार्य शाकटायन थे। मूर्धन्य मनीषियों को इस सम्बन्ध में अन्वेषणा करनी चाहिए कि क्या यापनीय संघ का सम्बन्ध 'जवनिज्ज' से था? पंडित बेचरदासजी दोशी ने लिखा है कि "जवनिज्ज" का यमनीय रूप अधिक अर्थयुक्त एवं संगत है, जिसका सम्बन्ध पांच यमों के साथ स्थापित होता है। यापनीय शब्द से इस प्रकार का अर्थ नहीं निकलता, यद्यपि 'जवनिज्ज' शब्द वर्तमान युग में नया और अपरिचित-सा लग रहा है पर खारवेल के शिलालेख में 'जवनिज्ज' का प्रयोग हुआ है जो इस शब्द की प्राचीनता और प्रचलितता को अभिव्यक्त करता है।[२५१]

■

विविध प्रसंग

मुनि अतिमुक्तकुमार

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ४ में अतिमुक्तकुमार श्रमण का उल्लेख है। जैन साहित्य में अतिमुक्तकुमार नामक दो श्रमण हुए हैं—एक भगवान् अरिष्टनेमि के युग में, जो कंस के लघुभ्राता थे; दूसरे अतिमुक्तकुमार भगवान् महावीर के युग में हुए हैं, जिनका उल्लेख अन्तकृद्दशांग में है। आचार्य अभयदेव के अनुसार अतिमुक्तकुमार ने भगवान् महावीर के पास छह[२५२] वर्ष की उम्र में प्रव्रज्या ग्रहण की थी। सामान्य नियम है कि आठ वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को प्रव्रज्या न दी जावे।[२५३]

अतिमुक्तकुमार भगवान् महावीर के शासन में सबसे लघु श्रमण थे। भगवान् महावीर ने अतिमुक्तकुमार के आयुष्य को नहीं, पर उनमें रही हुई तेजस्विता को निहारा था। बालक में भी सहज प्रतिभा रही हुई होती है। वह भी अपना उत्कर्ष कर सकता है। यह प्रस्तुत कथानक से स्पष्ट है। प्रस्तुत आगम में बालमुनि अतिमुक्तकुमार ने पानी में पात्र तिराया यह भी उल्लेख है जो उनके सरल जीवन का प्रमाण है। नौका के माध्यम से वे उस समय अपनी जीवन-नौका को तिराने की कमनीय कल्पना किए हुए थे।

आत्मविकास का बाधक : मोह

भगवतीसूत्र शतक १४, उद्देशक ७ में गणधर गौतम का एक सुनहरा प्रसंग है। गणधर गौतम अपने सामने ही प्रव्रजित मुनियों को मुक्त होते और केवलज्ञान प्राप्त करते हुए देखकर विचार में पड़ गए कि मैं अभी तक मुक्त क्यों नहीं बना हूँ? मुझे केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त क्यों नहीं हुआ है? जब उनका विचार चिन्ता में परिवर्तित हो गया तब भगवान् महावीर ने रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा–वत्स! तेरा जो स्नेह मेरे प्रति है वही इसमें बाधक हो रहा है। प्रसंग में यह भी बताया है कि मेरे साथ तुम्हारा सम्बन्ध आज का नहीं बहुत पुराना है। प्राचीन टीकाकारों ने बताया, भगवान् महावीर का जीव जब मरीचि के रूप में था तब गौतम का जीव उनका शिष्य कपिल था। भगवान् महावीर का जीव जब त्रिपृष्ट वासुदेव था तब गौतम का जीव उनका सारथी था। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव के युग से

लेकर महावीर युग तक गणधर गौतम के जीव का महावीर के साथ सम्बन्ध रहा है। प्रस्तुत प्रसंग से यह बात स्पष्ट है कि जरा-सा मोह भी मोहन (भगवान्) बनने में अन्तरायभूत होता है।

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक ९ में भगवान् महावीर के युग में हुए महाशिलाकंटक संग्राम का उल्लेख है। युद्ध का लोमहर्षक वर्णन पढ़कर लगता है कि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों की तरह उस युग में भी तीक्ष्ण और संहारकारी साधन थे। इस युद्ध का, जिसे जैनपरम्परा में महाशिलाकंटक युद्ध कहा है तो बौद्ध साहित्य के दीघनिकाय की महापरिनिव्वाणसुत्त तथा उसकी अट्ठकथा में बज्जीविजय नाम से वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि जैन और बौद्ध परम्परा में युद्ध के कारण, युद्ध की प्रक्रिया और युद्ध की निष्पत्ति आदि भिन्न-भिन्न मिलती है तथापि दोनों का सार यही है कि वैशाली, जो गणतन्त्र की राजधानी थी, उस पर राजतन्त्र की राजधानी मगध की ऐतिहासिक विजय हुई थी। जैनपरम्परा में चेटक सम्राट् लिच्छवियों के नायक हैं तो बौद्धपरम्परा केवल वज्जीसंघ (लिच्छवी संघ) को प्रस्तुत करती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से राजा कूणिक की ३३ करोड़ सेना और सम्राट् चेटक की ५९ करोड़ सेना आदि का जो वर्णन है वह चिन्तनीय है। इस संख्या के सम्बन्ध में मनीषीगण अपना मौलिक चिन्तन और समाधान प्रस्तुत करें, यह अपेक्षित है। हमने प्रस्तुत प्रसंग को बहुत ही विस्तार के साथ जैन कथासाहित्य की विकास यात्रा ग्रन्थ में लिखा है। जिज्ञासु पाठक उसका अवलोकन करें। वैदिक परम्परा में देवासुरसंग्राम का जैसा उल्लेख और वर्णन है, वह वर्णन प्रस्तुत आगम के महाशिलाकंटक और रथमूसल संग्राम को पढ़ते हुए स्मरण हो आता है।

देवानन्दा ब्राह्मणी

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ३३ में देवानन्दा ब्राह्मणी का उल्लेख है। भगवान् महावीर एक बार ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में पधारे। वहाँ ऋषभदत्त अपनी पत्नी देवानन्दा के साथ दर्शन के लिए पहुँचा। देवानन्दा महावीर को देखकर रोमाञ्चित हो जाती है। उसका वक्ष उभरने लगता है एवं आँखों से हर्ष के आँसू उमड़ने लगते हैं। उसकी कंचुकी टूटने लगी और स्तनों से दूध की धारा प्रवाहित होने लगी।

गणधर गौतम ने जिज्ञासा व्यक्त की कि देवानन्दा ब्राह्मणी इतनी रोमाञ्चित क्यों हुई है? उसके स्तनों से दूध की धारा क्यों प्रवाहित हुई है?

भगवान् महावीर ने कहा–देवानन्दा मेरी माता है। पुत्रस्नेह के कारण ही यह रोमाञ्चित हुई है। भगवान् महावीर ने गर्भ-परिवर्तन की अज्ञात घटना बताई। ऋषभदत्त और देवानन्दा के हर्ष का पार नहीं रहा। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की। गर्भ-परिवर्तन की घटना को जैनपरम्परा में एक आश्चर्य के रूप में लिया है। आचारांग,[२५४] समवायांग,[२५५] स्थानांग[२५६] आवश्यकनिर्युक्ति[२५७], प्रभृति में स्पष्ट वर्णन है कि श्रमण भगवान् महावीर ८२ रात्रि दिवस व्यतीत होने पर एक गर्भ से दूसरे गर्भ में ले जाए गए। जैनागमों की तरह वैदिकपरम्परा के ग्रन्थों में भी गर्भपरिवर्तन का वर्णन प्राप्त है। जब कंस वसुदेव की सन्तानों को समाप्त कर देता था तब विश्वात्मा ने योगमाया को यह आदेश दिया कि वह देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में रखे। विश्वात्मा के आदेश व निर्देश से योगमाया देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में रख देती है। तब पुरवासी अत्यन्त दुःख के साथ कहने लगे–हाय! देवकी का गर्भ नष्ट हो गया।[२५८] आधुनिक युग में वैज्ञानिकों ने अनेक स्थानों पर परीक्षण करके यह प्रमाणित कर दिया है कि गर्भपरिवर्तन असंभव नहीं है।

जमाली

भगवतीसूत्र शतक ९, उद्देशक ३३ में जमाली और प्रियदर्शना का वर्णन है। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार जमाली महावीर की बहिन सुदर्शना का पुत्र था, अतः उनका भानेज था और महावीर की पुत्री प्रियदर्शना का पति था। इस कारण उनका जामाता भी था। जब भगवान् महावीर क्षत्रियकुंड नगर में पधारे तब भगवान् महावीर के पावन प्रवचन को श्रवण कर जमाली अन्य ५०० क्षत्रिय कुमारों के साथ महावीर के संघ में दीक्षित हुए और जमाली की पत्नी प्रियदर्शना भी एक सहस्र स्त्रियों के साथ दीक्षित हुई। जमाली के विरोधी होने का इतिहास प्रस्तुत प्रकरण में दिया गया है।

एक बार जमाली भगवान् महावीर की बिना अनुमति प्राप्त किए ही ५०० श्रमणों के साथ पृथक् प्रस्थान कर गए। उग्र तप एवं नीरस आहार से उनके शरीर में पित्तज्वर हो गया। वे पीड़ा से आकुल-व्याकुल हो रहे थे। उन्होंने अपने सहवर्ती श्रमणों को शय्या संस्तारक करने का आदेश दिया। पीड़ा के कारण एक क्षण का विलम्ब भी उन्हें सह्य नहीं था। उन्होंने पूछा–शय्या संस्तारक कर दिया है? साधुओं ने निवेदन किया–जी हाँ, कर दिया

है। जमाली सोचने लगे कि भगवान् महावीर क्रियमाण को कृत, चलमान को चलित कहते हैं जो गलत है। जब तक शय्या संस्तारक पूरा बिछ नहीं जाता तब तक उसे बिछा हुआ कैसे कहा जा सकता है? उन्होंने अपने विचार श्रमणों के सामने प्रस्तुत किए। कुछ श्रमणों ने उनकी बात को स्वीकार किया और कुछ ने स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने स्वीकार किया, वे उनके साथ रहे और जिन्होंने स्वीकार नहीं किया, वे भगवान् महावीर के पास लौट आए। जब जमाली स्वस्थ हुए तब वे भगवान् महावीर के पास पहुँचे और कहने लगे–आपके अनेक शिष्य छद्मस्थ हैं, केवलज्ञानी नहीं। पर मैं तो केवलज्ञान-दर्शन से युक्त अर्हत् जिन और केवली के रूप में विचरण कर रहा हूँ। गणधर गौतम ने जमाली का प्रतिवाद किया। उन्होंने पूछा कि यदि आप केवलज्ञानी हैं तो बताएँ कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जीव शाश्वत है या अशाश्वत? जमाली गौतम के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके। तब भगवान् महावीर ने कहा–जमाली! मेरे अनेक शिष्य इन प्रश्नों का समाधान कर सकते हैं, तथापि वे अपने-आपको जिन व केवली नहीं कहते हैं। जमाली के पास इसका कोई उत्तर नहीं था, वर्षों तक असत्य प्ररूपणा करते रहे। अन्त में अनशन किया पर पाप की आलोचना नहीं की। जिससे वे लान्तक देवलोक में किल्विषिक देव के रूप में उत्पन्न हुए।

विशेषावश्यकभाष्य[१५१] में वर्णन है कि जमाली की विद्यमानता में ही प्रियदर्शना भी जमाली की विचारधारा में प्रवाहित हो गई थी और महावीर संघ को छोड़कर जमाली के संघ में मिल गई थी। एकदा अपने साध्वीपरिवार के साथ श्रावस्ती में ढंक कुंभकार की शाला में ठहरी। ढंक महावीर का परम भक्त था। उसने प्रियदर्शना को प्रतिबोध देने के लिए उसकी साड़ी में आग लगा दी। साड़ी जलने लगी। प्रियदर्शना के मुँह से शब्द निकले "संघाटी जल गई"। ढंक ने कहा–आप मिथ्या संभाषण कर रही हैं। संघाटी जली नहीं, जल रही है। प्रियदर्शना प्रबुद्ध हुई। उसे अपनी भूल परिज्ञात हुई। भूल का प्रायश्चित्त कर वह पुनः साध्वीसमूह के साथ महावीर के साध्वी-परिवार में सम्मिलित हो गई।

गोशालक

भगवतीसूत्र शतक १५ में गोशालक का ऐतिहासिक निरूपण हुआ है। गोशालक भगवान् महावीर की छद्मस्थ अवस्था में ही उनकी तपःपूत साधना को निहारकर उनका शिष्य बनने के लिए लालायित था। उसने भगवान्

महावीर से शिष्य बनाने की प्रार्थना की और चिरकाल तक भगवान् के साथ रहा भी। इसका सविस्तृत वर्णन प्रस्तुत प्रकरण में आया है। गोशालक मंख कर्म करने वाले मंखली नामक व्यक्ति का पुत्र था। **"गोसाले मंखलीपुत्ते"** शब्द का प्रयोग भगवती, उपासकदशांग आदि आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है। मंख का अर्थ कहीं पर चित्रकार[२६०] और कहीं पर चित्रविक्रेता[२६१] मिलता है। आचार्य अभयदेव ने अपनी टीका में लिखा है **"चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा"** अर्थात् जो चित्रपट्टक हाथ में रखकर आजीविका करता है। मंख नाम की एक जाति थी। उस जाति के लोग पट्टक हाथ में रखकर अपनी आजीविका चलाते थे। जैसे आज डाकोत लोग, शनिदेव की मूर्ति या चित्र हाथ में रखकर अपनी जीविका चलाते हैं।

धम्मपद अट्ठकथा,[२६२] मज्झिमनिकाय[२६३] अट्ठकथा में मंखलि गोशालक के संबंध में प्रकाश डालते हुए उसका नामकरण किस तरह से हुआ, इस पर एक कथा दी है। उनके मतानुसार गोशालक दास था। एक बार वह तैल-पात्र लेकर अपने स्वामी के आगे-आगे चल रहा था-फिसलन की भूमि आई। स्वामी ने उसे कहा–'तात! मा खलि, तात! मा खलि'–अरे, स्खलित मत होना। पर गोशालक स्खलित हो गया और सारा तेल जमीन पर फैल गया। स्वामी के भय से भीत बनकर वह भागने का प्रयास करने लगा। स्वामी ने उसका वस्त्र पकड़ लिया। वह उस वस्त्र को छोड़कर नंगा ही वहाँ से चल दिया। इस प्रकार वह नग्न साधु हो गया और मंखलि के नाम से विश्रुत हुआ।

प्रस्तुत कथानक एक किंवदन्ती की तरह ही है और यह बहुत ही उत्तरकालीन है, इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तनीय है।

आचार्य पाणिनि ने मस्करी शब्द का अर्थ परिव्राजक किया है।[२६४] आचार्य पतञ्जलि ने पातञ्जल महाभाष्य में लिखा है–मस्करी वह साधु नहीं है जो अपने हाथ में मस्कर या बांस की लाठी लेकर चलता है। मस्करी वह है जो उपदेश देता है–कर्म मत करो, शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।[२६५] आचार्य पाणिनि और आचार्य पतञ्जलि के अनुसार गोशालक परिव्राजक था और 'कर्म मत करो' इस मत की संस्थापना करने वाली संस्था का संस्थापक था। जैनसाहित्य की दृष्टि से वह मंखली का पुत्र था और गोशाला में उसका जन्म हुआ था। इस तथ्य की प्रामाणिकता पाणिनि[२६६] और आचार्य बुद्धघोष[२६७] के द्वारा भी होती है। जैन आगम में गोशालक को आजीविक

लिखा है तो त्रिपिटक साहित्य में आजीवक लिखा है। आजीविक तथा आजीवक इन दोनों शब्दों का अभिप्राय है आजीविका के लिए तपश्चर्या आदि करने वाला। गोशालक मत की दृष्टि से इस शब्द का क्या अर्थ उस समय व्यवहृत था, उसको जानने के लिए हमारे पास कोई ग्रन्थ नहीं है। जैन और बौद्ध साहित्य की दृष्टि से गोशालक के भिक्षाचरी आदि के नियम कठोर थे।[२६८]

जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों के आधार से यह सिद्ध है कि गोशालक नग्न रहता था तथा उसकी भिक्षाचरी कठिन थी। आजीविक परम्परा के साधु कुछ एक दो घरों के अन्तर से, कुछ एक तीन घरों के अन्तर से यावत् सात घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करते थे।[२६९] भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक ५ में आजीविक उपासकों के आचार-विचार का वर्णन इस प्रकार प्राप्त है—वे गोशालक को अरिहन्त मानते हैं। माता-पिता की शुश्रूषा करते हैं। गूलर, बड, बौर, अञ्जीर, पिलंखु इन पांच प्रकार के फलों का भक्षण नहीं करते। प्याज, लहसुन आदि कन्दमूल का भक्षण नहीं करते। बैलों को निःलंछण नहीं कराते। उनके नाक, कान का छेदन नहीं कराते। वे त्रस-प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा व्यापार भी नहीं करते।

गोशालक के सम्बन्ध में पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञों ने शोध प्रारम्भ की है। कुछ विज्ञ शोध के नाम पर नवीन स्थापना करना चाहते हैं पर प्राचीन साक्षियों को भूलकर नूतन कल्पना करना अनुचित है। कितने ही विद्वान् गोशालक सम्बन्धी इतिहास को सर्वथा परिवर्तित करना चाहते हैं। डॉ. वेणीमाधव बरुआ ने इसी प्रकार का प्रयास किया है,[२७०] जो उचित नहीं है। 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' ग्रन्थ में मुनि श्री नगराजजी डी. लिट् ने इस संबंध में विस्तार से ऊहापोह किया है। जिज्ञासु पाठक उस ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते हैं।[२७१]

यह सत्य है कि गोशालक अपने युग का एक ख्यातिप्राप्त धर्मनायक था। उसका संघ भगवान् महावीर के संघ से बड़ा था। भगवान् महावीर के श्रावकों की संख्या १५९००० थी तो गोशालक के श्रावकों की संख्या ११६१००० थी जो उसके प्रभाव को भी व्यक्त करती है। यही कारण है कि तथागत बुद्ध ने गोशालक के लिए कहा कि वह मछलियों की तरह लोगों को अपने जाल में फँसाता है।[२७२] इसके तीन मूल कारण थे। १.

निमित्त-संभाषण २. तप की साधना, ३. शिथिल आचारसंहिता; जबकि महावीर[२७३] और बुद्ध[२७४] के संघ में निमित्त भाषण वर्ज्य रहा और भगवान् महावीर की तो आचारसंहिता भी कठोर रही।

भगवती के अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति,[२७५] आवश्यकचूर्णि.[२७६] आवश्यक मलयगिरिवृत्ति,[२७७] त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित,[२७८] महावीरचरियं[२७९] प्रभृति ग्रन्थों में गोशालक के जीवन के अन्य अनेक प्रसंग हैं। पर विस्तारभय से हम उन प्रसंगों को यहाँ नहीं दे रहे हैं। दिगम्बराचार्य देवसेन ने भावसंग्रह ग्रन्थ में गोशालक का परिचय कुछ अन्य रूप से दिया है। उनके अभिमतानुसार गोशालक भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के एक श्रमण थे। वे महावीर-परम्परा में आकर गणधर पद प्राप्त करना चाहते थे पर जब उनकी गणधर पद पर नियुक्ति नहीं हुई तो वे श्रावस्ती में पहुँचे और आजीवक सम्प्रदाय के नेता व अपने-आपको तीर्थङ्कर उद्घोषित करने लगे। वे इस प्रकार उपदेश देने लगे–ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, अज्ञान से ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई नहीं है। अतः अपनी इच्छा के अनुसार शून्य का ध्यान करना चाहिए।[२८०] त्रिपिटक साहित्य में भी आजीवक संघ और गोशालक का वर्णन प्राप्त है। तथागत बुद्ध के समय जितने मत और मतप्रवर्तक थे, उन सभी मतों एवं मत-प्रवर्तकों में से गोशालक को तथागत बुद्ध सबसे अधिक निकृष्ट मानते थे। तथागत बुद्ध ने सत्पुरुष और असत्पुरुष का वर्णन करते हुए कहा–कोई व्यक्ति ऐसा होता है जो बहुत जनों के अलाभ के लिए होता है। बहुत जनों की हानि के लिए होता है। बहुत जनों के दुःख के लिए होता है। वह देवों के लिए भी अलाभकर और हानिकारक है, जैसे मंखलि-गोशालक।[२८१] दूसरे स्थान पर उन्होंने यह भी बताया कि श्रमण धर्मों में सबसे निकृष्ट और जघन्य मान्यता गोशालक की है, जैसे कि सभी प्रकार के वस्त्रों में 'केशकम्बल'[२८२]। यह कम्बल शीतकाल में शीतल, ग्रीष्मकाल में उष्ण तथा दुर्वर्ण, दुर्गन्ध, दुःस्पर्श वाला होता है। वैसे ही जीवनव्यवहार में निरुपयोगी गोशालक का नियतिवाद है।[२८३] इन अवतरणों से यह स्पष्ट है कि गोशालक और उसके मत के प्रति बुद्ध का विद्रोह स्पष्ट था।

सूत्रकृताङ्ग में आर्द्रकुमार का प्रकरण आया है। उस प्रकरण में आर्द्रकुमार ने आजीवक भिक्षुओं के अब्रह्मसेवन का उल्लेख किया है। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय[२८४] आदि में भी आजीवकों के अब्रह्मसेवन का वर्णन

मिलता है। मज्झिमनिकाय में निर्ग्रन्थपरम्परा को ब्रह्मचर्यवास में और आजीवकपरम्परा को अब्रह्मचर्यवास में लिया है।[२८५] इतिहासवेत्ता डा. सत्यकेतु[२८६] के अभिमतानुसार श्रमण भगवान् महावीर और गोशालक में तीन बातों का मतभेद था। उन तीनों बातों में एक स्त्रीसहवास भी है। इन सब अवतरणों से यह स्पष्ट है कि गोशालक की मान्यता में स्त्रीसहवास पर प्रतिबन्ध नहीं था। तथापि उसका मत इतना अधिक क्यों व्यापक बना, इस सम्बन्ध में हम पूर्व ही उल्लेख कर चुके हैं। शोधार्थियों को तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए और प्रमाण-पुरस्सर चिन्तन देना चाहिए, जिससे सत्य तथ्य समुद्घाटित हो सके।

इस प्रकार भगवतीसूत्र में विविध व्यक्तियों के चरित्र आए हैं जो ज्ञातव्य हैं और जिनसे अन्य अनेक दार्शनिक गुत्थियों को भी सुलझाया गया है।

विविध : सैद्धान्तिक चिन्तन

हम अब भगवतीसूत्र में आए हुए सैद्धांतिक विषयों पर चिंतन करेंगे, जो जैनदर्शन का हृदय हैं।

द्रव्य-गुण विचार

भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक २ में द्रव्य-विषयक चिन्तन है। यहाँ हमें सर्वप्रथम यह चिन्तन करना है कि द्रव्य किसे कहते हैं? सूत्रकृताङ्ग[२८७] चूर्णि में आचार्य जिनदासगणि महत्तर ने द्रव्य की परिभाषा करते हुए लिखा है–जो विशेष-पर्यायों को प्राप्त करता है वह द्रव्य है। अन्य जैनाचार्यों ने लिखा है–जो पर्यायों के लय और विलय से जाना जाता है वह द्रव्य है।[२८८] दूसरे आचार्य ने लिखा है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है। वह विभिन्न अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होने पर भी सदा ध्रुव रहता है। क्योंकि ध्रौव्य के अभाव में पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दोनों अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है वह द्रव्य है। जो द्रव्य है वह सत् है। आचार्य उमास्वाति ने सत् को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त[२८९] माना है। उन्होंने द्रव्य की परिभाषा करते हुए गुण और पर्याय वाले को द्रव्य कहा है।[२९०]

द्रव्य में परिणमन होता है। उत्पाद और व्यय होने पर भी उसका मूल स्वरूप नष्ट नहीं होता। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रतिपल प्रतिक्षण जो

परिवर्तन होता है वह पूर्व रूप से विलक्षण नहीं होता–परिवर्तन में कुछ समानता रहती है तो कुछ असमानता भी हो जाती है। पूर्व परिणाम और उत्तर परिणाम में जो समानता है वह द्रव्य है। इस दृष्टि से द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। वह अनुस्यूत रूप ही वस्तु की हर एक अवस्था को प्रभावित करता है। उदाहरण के रूप में माला के प्रत्येक मोती में धागा अनुस्यूत रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन में जो असमानता है वह पर्याय कही जाती है। इस दृष्टि से द्रव्य की उत्पत्ति भी मानी जाती है तथा विनाश भी। इस कारण द्रव्य में उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता–इन तीनों अवस्थाओं का उल्लेख है। द्रव्य रूप में वह स्थिर है तो पर्याय रूप में उत्पन्न एवं नष्ट भी होता रहता है। सारांश यह है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है, न सर्वथा अनित्य है किन्तु वह परिणामी नित्य है।

आगम के शब्दों में कहा जाय तो जो गुण का आश्रय या अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है वह द्रव्य है। इसमें प्रथम परिभाषा द्रव्य का स्वरूपात्मक रूप प्रस्तुत करती है तो दूसरी परिभाषा अवस्थात्मक रूप को व्यक्त करती है। दोनों में समन्वय होने से द्रव्य-गुण-पर्यायवत् कहा जाता है तथा उसका परिणामी नित्यस्वरूप बतलाता है। द्रव्य में सहभावी (गुण) और क्रमभावी (पर्याय) ये दो प्रकार के धर्म होते हैं। बौद्धदर्शन ने सत्-द्रव्य को एकान्त अनित्य माना है अर्थात् निरन्वय क्षणिक, केवल उत्पाद-विनाशस्वभाव वाला माना है तो वेदान्तदर्शन ने सत् पदार्थ (ब्रह्म) को एकान्त नित्य माना है। बौद्धदर्शन परिवर्तनवादी है तो वेदान्तदर्शन नित्य सत्तावादी। पर जैनदर्शन ने इन दोनों दर्शनों की विचारधारा को समन्वय की तुला पर तोल कर परिणामी नित्यत्ववाद की संस्थापना की है। इसका तात्पर्य है कि द्रव्य की सत्ता है, परिवर्तन भी है, द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी और इस परिवर्तन में उसका अस्तित्व भी सदा सुरक्षित रहता है। उत्पाद और विनाश के मध्य कोई स्थिर आधार नहीं हो तो सजातीयता का अनुभव नहीं हो सकता। 'यह वह ही है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि हम द्रव्य को निर्विकार मानें तो विश्व में जो विविधता है, उसकी संगति नहीं हो सकती।

परिणामीनित्यत्ववाद जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से कर सकते हैं। इस वाद की संस्थापना सन् १७८९ में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'लेवोसियर' ने की थी। इस वाद का सार है–इस अनन्त विश्व में द्रव्य का परिमाण सदा सर्वदा समान

रहता है। उसमें किसी प्रकार की कमी-वेशी नहीं होती, न किसी वर्तमान द्रव्य का पूर्ण नाश होता है और न किसी नए द्रव्य की पूर्ण रूप से उत्पत्ति होती है। हम जिसे द्रव्य का नाश समझते हैं वह उसका रूपान्तर है। जैसे एक कोयला जलकर राख बन जाता है; पर वह नष्ट नहीं होता। वायुमण्डल में ऑक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित हो जाता है, वैसे ही शक्कर या नमक आदि पानी में मिलकर नष्ट नहीं होते पर ठोस रूप को बदलकर द्रव रूप में परिणत हो जाते हैं। जहाँ कहीं भी नूतन वस्तु उत्पन्न होती हुई दिखलाई देती है, पर सत्य तथ्य यह है कि वह किसी पूर्ववर्ती वस्तु का ही रूपान्तर है। किसी लोहे की वस्तु में जंग लग जाता है। वहाँ पर जंग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ, पर धातु की ऊपरी सतह पर पानी और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के संयोग से लोहे के ओक्सीहाईड्रेट के रूप में परिणत हो गई। भौतिकवाद पदार्थों के गुणात्मक अन्तर को परिमाणात्मक अन्तर में परिवर्तित कर देता है। शक्ति परिमाण में परिवर्तन नहीं किन्तु गुण की दृष्टि से परिवर्तनशील है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नहीं होता, अपितु वे एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं। उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय द्रव्यों का यह त्रिविध लक्षण प्रतिक्षण घटित होता रहता है। इस शब्दावली में और जिसे "द्रव्य का नाश होना समझा जाता है वह उसका रूपान्तर में परिणमनमात्र है।" इन शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तु की दृष्टि से इस विश्व में जितने द्रव्य हैं उतने ही द्रव्य सदा अवस्थित रहते हैं। सापेक्षदृष्टि से ही जन्म और मरण है। नवीन पर्याय का उत्पाद जन्म है और पूर्व पर्याय का विनाश मृत्यु है।

सांख्यदर्शन ने पुरुष को नित्य और प्रकृति को परिणामीनित्य मानकर नित्यानित्यत्ववाद की संस्थापना की है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा प्रभृति को नित्य मानते हैं और घट, पट प्रभृति को अनित्य मानते हैं। इस तरह समूह की दृष्टि से वे परिणामित्व एवं नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं। पर जैनदर्शन की भाँति द्रव्य मात्र को परिणामी नित्य नहीं मानते। यह भी सत्य तथ्य है कि महर्षि पतञ्जलि और आचार्य कुमारिल भट्ट, पार्थसारथी प्रभृति मनीषियों ने परिणामीनित्यत्ववाद को स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में मान्यता नहीं दी है, तथापि परिणामीनित्यत्ववाद का प्रकारान्तर[९१] से पूर्ण समर्थन किया है।

द्रव्य शब्द अनेकार्थक है। सत् तत्त्व और पदार्थपरक अर्थ पर हम कुछ चिन्तन कर चुके हैं। सामान्य के लिए भी द्रव्य शब्द व्यवहृत हुआ है और

विशेष के लिए पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है। सामान्य भी तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य के रूप में दो प्रकार का है। एक ही काल में स्थित अनेक देशों में रहने वाले अनेक पदार्थों में समानता का होना तिर्यक्सामान्य है। जब कालकृत विविध अवस्थाओं में किसी विशेष द्रव्य का एकत्व या अन्वय (समानता) विवक्षित हो या एक विशेष पदार्थ की अनेक अवस्थाओं की एकता या ध्रौव्य अपेक्षित हो, वह एकत्वसूचक अंश ऊर्ध्वतासामान्य है। जीव के संसारी और मुक्त इन दो भेदों में रहने वाला जीवत्व या संसारी के एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ५ भेदों में रहा हुआ संसारी जीवत्व आदि तिर्यक् सामान्य हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टि से जीव शाश्वत है, यह जीव का ऊर्ध्वतासामान्य है।

गणधर गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की– 'द्रव्य कितने प्रकार का है?'' समाधान की भाषा में भगवान् ने कहा–'द्रव्य के जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य ये दो प्रकार हैं।' पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की– 'अजीव द्रव्य कितने प्रकार का है?' समाधान के रूप में कहा गया–'वह रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार का है।' पुनः जिज्ञासा उभरी–'अजीव द्रव्य संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं?' समाधान दिया गया–'वे अनन्त हैं, चूंकि परमाणु पुद्गल अनन्त हैं, द्विप्रदेशी स्कन्ध अनन्त हैं यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध अनन्त हैं।' उसी तरह जीव द्रव्य के सम्बन्ध में भी गौतम ने पृच्छा की कि वह संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं? समाधान दिया गया–जीव अनन्त हैं, क्योंकि नैरयिक, चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, असंज्ञी मनुष्य तथा देव ये सभी प्रत्येक पृथक्-पृथक् असंख्यात हैं। संज्ञी मनुष्य संख्यात हैं। वनस्पतिकायिक जीव और सिद्ध अनन्त हैं। अतः समस्त जीव द्रव्य की अपेक्षा से अनन्त हैं।

इसी प्रकार भगवतीसूत्र शतक १४, उद्देशक ४ में जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। शतक १७, उद्देशक २ में जीव और जीवात्मा ये दोनों पृथक् नहीं हैं, ऐसा स्पष्ट किया गया है, शतक ७, उद्देशक ८ में हाथी और कुंथुआ दोनों की काया में अन्तर है तो क्या उनके जीव समान हैं या असमान हैं? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया कि दोनों में जीव समान हैं, जैसे दीपक का प्रकाश स्थान के अनुसार छोटा और बड़ा होता है वैसे ही शरीर के अनुसार आत्मप्रदेश संकुचित और विस्तृत होते हैं। शतक १, उद्देशक २ में जीव

स्वयंकृत कर्म का वेदन करते हैं या परकृत कर्म का वेदन करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बतलाया कि जीव स्वकृत कर्म का ही वेदन करता है, परकृत कर्म का नहीं।

जैन आगमसाहित्य का गहराई से पर्यवेक्षण करने पर सहज परिज्ञात होता है कि उसने अद्वैतवादियों की भाँति जगत् को वस्तु अवस्तु अर्थात् माया में विभक्त नहीं किया है अपितु यह प्रतिपादित किया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में स्वभाव और विभाव सन्निहित हैं। वस्तु का स्वभाव वह है जो परनिरपेक्ष हो और विभाव वह है जो परसापेक्ष हो। आत्मा का चैतन्य, ज्ञान, सुख प्रभृति का जो मूल रूप है वह उसका स्वभाव है और अजीव का स्वभाव है जड़ता। आत्मा की मनुष्य, देव आदि गति रूप जो स्थिति है, वह विभाव दशा है। स्वभाव और विभाव दोनों अपने-आप में सत्य हैं। हाँ, तद्विषयक हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, लेकिन वह भी तब जब हम स्वभाव को विभाव समझें या विभाव को स्वभाव। तत् में अतत् का ज्ञान होने पर ही ज्ञान में मिथ्यात्व की संभावना रहती है।[१९२]

विज्ञानवादी बौद्धों का यह मन्तव्य है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही वस्तुग्राहक और साक्षात्कारात्मक है और उसके अतिरिक्त जितना भी ज्ञान है वह अवस्तुग्राहक, भ्रामक, अस्पष्ट और असाक्षात्कारात्मक है। जबकि जैन आगम-साहित्य में प्रत्यक्ष ज्ञान उसे कहा है जो इन्द्रियनिरपेक्ष हो और आत्मसापेक्ष हो तथा साक्षात्कारात्मक हो। परोक्ष उसे कहा है जो ज्ञान इन्द्रिय और मनसापेक्ष हो तथा असाक्षात्कारात्मक हो। प्रत्यक्षज्ञान से ही स्वभाव और विभाग का सही परिज्ञान हो सकता है। जो ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष है उससे वस्तु के स्वभाव और विभाव का स्पष्ट और सही परिज्ञान नहीं होता। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान भ्रम है। विज्ञानवादी बौद्ध परोक्ष ज्ञान को अवस्तुग्राहक होने के कारण भ्रम मानते हैं पर जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। उसका यह अभिमत है कि विभाव वस्तु का परिणाम है। यह वस्तु का एक रूप है। अतः उसके ग्राहकज्ञान को हम भ्रम नहीं कह सकते।

ज्ञान-विषयक चिन्तन

जैन आगमसाहित्य में ज्ञान के सम्बन्ध में यत्र-तत्र विस्तार से निरूपण किया गया है। ज्ञान के विविध भेद-प्रभेदों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। आगमयुग के पश्चात् जैनदार्शनिक मनीषी भी ज्ञान के सम्बन्ध में चिन्तन

करते रहे हैं। विस्तारभय से हम उस चिन्तन को यहाँ प्रस्तुत न कर यह बताना चाहेंगे कि ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप है, ज्ञान एक ऐसा गुण है जिसके बिना आत्मा आत्मा नहीं रहता। निगोद अवस्था में भी, जहाँ आत्मा के असंख्यात प्रदेश ज्ञानावरणीय कर्म से आच्छन्न होते हैं, वहाँ मूल ८ रुचक प्रदेश सदा ज्ञानावरणीय कर्म से अलिप्त रहते हैं।

भगवतीसूत्र में भी ज्ञान के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन प्राप्त है। जिज्ञासु पाठक भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक २ का गहराई से अवलोकन करें। शतक १, उद्देशक १ में गणधर गौतम और भगवान् महावीर का एक सुन्दर संवाद है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि चारित्र वर्तमान भव तक सीमित रहता है परन्तु ज्ञान इस लोक, परलोक तथा तदुभयलोक में भी रह सकता है।

जैन आगमों में जहाँ ज्ञानचर्चा की गई है वहाँ प्रमाणचर्चा भी की गई है। ज्ञान को प्रामाणिकता देने के लिए सम्यक्त्व और मिथ्यात्व पर चिन्तन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि सम्यग्दर्शी का ज्ञान, ज्ञान है और वही ज्ञान मिथ्यादर्शी के लिए अज्ञान है। ज्ञान के ५ और अज्ञान के ३ भेद प्रतिपादित किए गए हैं।

प्रमाण-चर्चा

आगमसाहित्य में नैयायिकदर्शन की तरह कहीं पर चार प्रमाणों का उल्लेख है तो कहीं तीन प्रमाणों का उल्लेख है।

स्थानांगसूत्र में प्रमाण शब्द के स्थान पर हेतु शब्द का प्रयोग किया है। ज्ञप्ति के साधनभूत होने से प्रत्यक्ष, अनुमान आदि को हेतु शब्द से व्यवहृत किया है।[२९३] निक्षेप दृष्टि से स्थानांग में द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण ये चार भेद किये हैं।[२९४] स्थानांग में प्रमाण के तीन भेद भी प्राप्त होते हैं। वहाँ पर प्रमाण के स्थान पर 'व्यवसाय' शब्द का प्रयोग हुआ। व्यवसाय का अर्थ 'निश्चय' है। व्यवसाय के प्रत्यक्ष, प्रत्ययिक और आनुगामिक ये तीन प्रकार है।[२९५] जैन आगमसाहित्य में ही नहीं, अन्य दर्शनों में भी प्रमाण के तीन और चार प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं। सांख्यदर्शन में तीन प्रमाणों का निरूपण है, तो न्यायदर्शन में चार प्रमाण प्रतिपादित हैं। अनुयोगद्वारसूत्र में प्रमाण के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार के साथ चर्चा है। भारतीय दार्शनिकों में प्रमाण की संख्या के सम्बन्ध में एकमत नहीं रहा है।

चार्वाकदर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। वैशेषिकदर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को प्रमाण मानता है। सांख्यदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये हैं। न्यायदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। प्रभाकरमीमांसक ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण माने हैं। भाट्टमीमांसा-दर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव, ये छह प्रमाण माने हैं। बौद्धदर्शन ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं। जैन दार्शनिक विज्ञों ने प्रमाण के तीन और दो भेद माने हैं। आचार्य सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने हैं[२९६] तो उमास्वाति[२९७] ने, वादी देवसूरि[२९८] ने और आचार्य हेमचन्द्र[२९९] ने प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण स्वीकार किये हैं। मगर यह वस्तुतः विवक्षाभेद है। इसमें मौलिक अन्तर नहीं है।

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ४ में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुगान, उपमान और आगम ये चार प्रकार माने हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के इन्द्रियप्रत्यक्ष, नोइन्द्रियप्रत्यक्ष–ये दो भेद किये हैं। अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत्–ये तीन प्रकार प्रतिपादित किये हैं। उपमान प्रमाण के भेद-प्रभेद नहीं हैं। आगम प्रमाण के लौकिक और लोकोत्तर–ये दो भेद बताकर लौकिक में भारत, रामायण आदि ग्रन्थों का सूचन किया है तो लोकोत्तर आगम में द्वादशांगी का निरूपण किया है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम में प्रमाण के सम्बन्ध में चिन्तन है। यह चिन्तन अनुयोगद्वारसूत्र में और अधिक विस्तार से प्रतिपादित है।

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक ४ में जीवों के विविध भेद-प्रभेदों पर चिन्तन किया गया है। जीवविज्ञान जैनदर्शन की अपनी देन है। जितना गहराई से जैनदर्शन ने जीवों के भेद-प्रभेदों पर चिन्तन किया है, उतना सूक्ष्म चिन्तन अन्य पौर्वात्य और पाश्चात्य दार्शनिक नहीं कर सके हैं। वेदों में पृथ्वी देवता, आपो देवता आदि के द्वारा यह कहा गया है कि वे एक-एक हैं, पर जैनदर्शन ने पृथ्वी आदि में अनेक जीव माने हैं, यहाँ तक कि मिट्टी के कण, जल की बूँद और अग्नि की चिनगारी में असंख्य जीव होते हैं। उनका एक शरीर दृश्य नहीं होता, अनेक शरीरों का पिण्ड ही हमें दिखलाई देता है।[३००]

जीव का मुख्य गुण चेतना है। चेतना सभी जीवों में उपलब्ध है। जिसमें चेतना है वह जीव है। फिर भले ही वह सिद्ध हो या सांसारिक। चेतना सिद्ध में भी है और संसारी जीव में भी है। चेतना की दृष्टि से सिद्ध और संसारी जीव में भेद नहीं है। आगमिक दृष्टि से जीव के बोधरूप व्यापार को चेतना कहा है। वह बोधरूप व्यापार सामान्य और विशेष रूप से दो प्रकार का है। जब चेतना वस्तु के विशेष धर्मों को गौण कर सामान्य धर्म को ग्रहण करती है तब दर्शनचेतना कहलाती है और जो चेतना सामान्य धर्मों को गौण करके वस्तु के विशेष धर्मों को मुख्य रूप से ग्रहण करती है, वह ज्ञानचेतना कहलाती है। ज्ञानचेतना ही विशेष बोधरूप व्यापार कहलाती है। एक ही चेतना कभी सामान्य रूप में तो कभी विशेषात्मक होती है।

दार्शनिकों ने चेतना के ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना—ये तीन प्रकार भी माने हैं। किसी भी वस्तु-तत्त्व को जानने के लिए चेतना का जो ज्ञानरूप परिणाम है, वह ज्ञानचेतना है। कषाय के उदय से क्रोध, मान, माया, लोभ रूप जो परिणाम है, वह कर्मचेतना है। शुभ और अशुभ कर्म के उदय से जो सुख और दुःखरूप परिणाम होता है, वह कर्मफलचेतना है। दार्शनिकों ने इन तीनों प्रकार की चेतनाओं को अन्य रूप से कहा है।

जीव-वर्गीकरण

आगमकारों ने संसारी जीवों की दृष्टि से त्रस और स्थावर—ये दो भेद किये हैं। जिस जीव को त्रस नामकर्म का उदय है वह त्रस जीव है और जिस जीव को स्थावर नामकर्म का उदय है वह स्थावर जीव है। गतित्रस और लब्धित्रस ये त्रस के दो प्रकार हैं। जिनमें स्वतन्त्र रूप से गमन करने की शक्तिविशेष हो, वह गतित्रस हैं और जो सुख-दुःख की इच्छा से गमन करते हैं, वह लब्धित्रस हैं। तेजस्काय और वायुकाय को गतित्रस तथा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को लब्धित्रस माना गया है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने त्रस और स्थावर शब्दों का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक क्रिया की दृष्टि से तो दूसरा कर्म के उदय की दृष्टि से।

कर्म के उदय की दृष्टि से तेजस्काय और वायुकाय भी स्थावर ही हैं। इस दृष्टि से स्थावर के ५ भेद प्रतिपादित हैं। त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—ये चार प्रकार हैं। संसार के जितने भी जीव हैं वे त्रस और स्थावर में समाविष्ट हो जाते हैं।

गति की दृष्टि से संसारी जीवों को चार भागों में विभक्त किया गया है– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

नरक गति के जीवों के परिणाम और लेश्या अशुभ और अशुभतर होती है। जब पापों का पुंज अत्यधिक मात्रा में एकत्रित हो जाता है तब जीव नरक में जाकर उत्पन्न होता है। नरक में भयंकर शीत, ताप, क्षुधा, तृषा प्रभृति वेदनाएँ होती हैं। नरकभूमियों में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि अशुभ होते हैं। उनके शरीर अशुचिकर और बीभत्स होते हैं। उनका शरीर वैक्रिय होता है तथापि उसमें अशुचिता की ही प्रधानता होती है। नरक के जीव मर कर पुनः नरक में पैदा नहीं होते। मनुष्य और तिर्यञ्च ही मर कर नरक में उत्पन्न होते हैं।

नारक, मनुष्य और देव को छोड़कर इस विराट् विश्व में जितने भी जीव हैं, वे सभी तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक होते हैं। तिर्यञ्चों में पाँच स्थावर (एकेन्द्रिय), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सभी होते हैं। पंचेन्द्रिय में जलचर-स्थलचर-खेचर-उरचर और भुजचर जीवों का समावेश है। तिर्यञ्च जीवों का विस्तार बहुत है। वे अनन्त हैं। मूल आगमों में एक-एक के विविध प्रकार प्रतिपादित हैं।

मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जीव को मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। आत्मविकास की परिपूर्णता मानव ही कर सकता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने मानवगति की महिमा गाई है। मानवों को आर्य और अनार्य इन दो भागों में विभक्त किया गया है। जो हिंसा आदि दुष्कृत्यों से दूर रहता है वह आर्य है और इसके विपरीत व्यक्ति अनार्य है। आर्यों के भी ऋद्धिप्राप्त आर्य अनऋद्धिप्राप्त आर्य–ये दो प्रकार हैं। ऋद्धिप्राप्त आर्यों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, विद्याधर और चारण लब्धिधारी मुनि आदि हैं। आर्यों के भी क्षेत्रआर्य, जातिआर्य, कुलआर्य, कर्मआर्य, शिल्पआर्य, भाषाआर्य, ज्ञानआर्य, दर्शनआर्य और चारित्रआर्य ये नौ प्रकार किये गये हैं। इन भेदों का मूल आधार गुण और कर्म हैं।

अन्यान्य आधारों पर भी मनुष्यों के भेदों का निरूपण किया गया है।

भौतिक सुख और समृद्धि की अपेक्षा मानवगति से देवगति श्रेष्ठ है। देवगति में पुण्य का प्रकर्ष होता है। उसमें लेश्याएं प्रशस्त होती हैं। वैक्रिय शरीर होता है, जिसके कारण वे चाहे जैसा रूप बना लेते हैं। देवों के भी

चार प्रकार हैं (१) भवनपति, (२) वाणव्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

भवनों में रहने वाले देव भवनपति कहलाते हैं। असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनपति देवों के दस प्रकार हैं। इन भवनपति देवों का आवास नीचे लोक में है। विविध प्रकार के प्रदेशों में एवं शून्य प्रान्तों में रहने वालों को वाणव्यन्तर देव कहते हैं। भूत, पिशाच आदि व्यन्तर देव हैं। ये देव मध्यलोक में रहते हैं। ज्योतिष्क देवों के चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा, ये पांच भेद हैं। ये अढाई द्वीप में चर हैं और अढाई द्वीप के बाहर अचर यानी स्थिर हैं। ज्योतिष्क देव मध्यलोक में ही हैं। विमानों में रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं। वैमानिक देव ऊँचे लोक में रहते हैं। उनके कल्पोपपन्न और कल्पातीत, ये दो प्रकार हैं। कल्पोपपन्नों में स्वामी-सेवक भाव रहता है पर कल्पातीतों में इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता। कल्पोपपन्नों के बारह प्रकार हैं और कल्पातीत के ग्रैवेयकवासी और अनुत्तरविमानवासी ये दो प्रकार हैं। ग्रैवेयक देवों के नौ प्रकार हैं। अनुत्तरविमानवासी विजय, वैजयन्त आदि पांच प्रकार के हैं। बारह देवलोकों में प्रथम आठ देवलोकों का आधिपत्य एक-एक इन्द्र के हाथ में है। नवमें दसवें का एक इन्द्र है। ग्यारहवें, बारहवें का भी एक इन्द्र है। इस प्रकार बारह देवलोकों के दस इन्द्र हैं। देवगति का आयु पूर्ण कर कोई भी देव पुनः देव नहीं बनता।

आगम में देवों के द्रव्यदेव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव और भावदेव आदि भेद किये हैं। भविष्य में देवरूप में उत्पन्न होने वाला जीव द्रव्यदेव है। चक्रवर्ती नरदेव है। साधु धर्मदेव है। तीर्थंकर देवाधिदेव हैं और देवों के चार निकाय भावदेव हैं।

आत्मा के आठ प्रकार

भगवतीसूत्र शतक १२, उद्देशक १० में आत्मा के आठ प्रकार बताये हैं। आत्मा एक चेतनावान् पदार्थ है। चेतना उसका धर्म है और उपयोग आत्मा का लक्षण है। चेतना सदा सर्वदा एक सदृश नहीं रहती। उसमें रूपान्तरण होता रहता है। रूपान्तरण को ही जैनदर्शन में पर्याय-परिवर्तन कहा गया है। जो भी द्रव्य होता है वह बिना गुण और पर्याय के नहीं होता, गुण सर्वदा साथ होता है तो पर्याय प्रतिपल प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। आत्मा एक द्रव्य है, तथापि पर्यायभेद की दृष्टि से उसके अनेक रूप दृग्गोचर होते हैं। द्रव्य-आत्मा वह है जो चेतनामय, असंख्य अविभाज्य

प्रदेशों–अवयवों का अखण्ड समूह है। इसमें केवल विशुद्ध आत्मद्रव्य की ही विवक्षा की गई हैं। पर्यायों की सत्ता होने पर भी उन्हें गौण कर दिया गया है। यह आत्मा का त्रैकालिक सत्य है, तथ्य है, जिसके कारण से आत्मद्रव्य अनात्म द्रव्य नहीं बनता। द्रव्य-आत्मा शुद्ध चेतना है। क्रोध-मान-माया-लोभ से रंजित होने पर आत्मा कषाय-आत्मा के रूप में पहचाना जाता है। आत्मा की जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं वे योग द्वारा होती हैं। इसलिए आत्मा की भी योग-आत्मा के नाम से पहचान कराई गई है। चेतना जब व्यापृत होती है तब वह उपयोग-आत्मा है। ज्ञानात्मक और दर्शनात्मक चेतना को क्रमशः ज्ञान-आत्मा और दर्शन-आत्मा कहा गया है। आत्मा की विशिष्ट संयममूलक अवस्था चारित्र-आत्मा के रूप में विश्रुत है। आत्मा की शक्ति वीर्य-आत्मा के रूप में जानी और पहचानी जाती है।

आत्मा के ये जो आठ प्रकार बताये हैं वे अपेक्षा दृष्टि से बतलाये गये हैं। आत्मा का जो पर्यायान्तरण होता है, वह केवल इन आठ बिन्दुओं तक ही सीमित नहीं है। आत्मा के जितने पर्यायान्तरण हैं उतनी ही आत्मायें हो सकती हैं। इस दृष्टि से आत्मा के अनंत भेद भी हो सकते हैं। प्रस्तुत आगम में इन आठों आत्माओं के प्रकारों का अल्पबहुत्व भी दिया है।

जीव के चौदह भेद

भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक १ में संसारी जीव के चौदह भेद बताये हैं। एकेन्द्रिय जीव के चार भेद, पञ्चेन्द्रिय जीव के चार भेद और विकलेन्द्रिय जीव के छः भेद हैं। एकेन्द्रिय जीव के सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त ये चार प्रकार हैं। सूक्ष्मनामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर चर्मचक्षु से निहारा नहीं जा सकता वे सूक्ष्मएकेन्द्रिय जीव हैं। ये सूक्ष्म जीव चतुर्दश रज्जुप्रमाण सम्पूर्ण लोक में परिव्याप्त हैं। लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ पर ये जीव न हों। ये जीव इतने सूक्ष्म हैं कि पर्वत की कठोर चट्टान को चीरकर भी आर-पार हो जाते हैं। किसी के मारने से नहीं मरते। विश्व की कोई भी वस्तु उनका घात-प्रतिघात नहीं कर सकती। साधारण वनस्पति के सूक्ष्म जीवों को सूक्ष्मनिगोद भी कहते हैं। साधारण वनस्पतिकाय का शरीर निगोद कहलाता है। इस विश्व में असंख्य गोलक हैं। एक एक गोलक में असंख्यात निगोद हैं और एक एक निगोद में अनन्त जीव हैं। इनका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त होता है।

बादरनामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर चर्मचक्षु से देखा जा सके, वे बादर-एकेन्द्रिय जीव हैं। बादर-एकेन्द्रिय जीव लोक के नियत क्षेत्र में

ही प्राप्त होते हैं। पांच स्थावर के भेद से बादर-एकेन्द्रिय के पांच भेद हैं। बादर-वनस्पतिकाय के प्रत्येक और साधारण ये दो भेद हैं। बादर साधारण वनस्पति निगोद के नाम से भी जानी-पहचानी जाती है। इनमें भी अनन्त जीव होते हैं। इन जीवों में केवल एक इन्द्रिय होती है और वह स्पर्शन इन्द्रिय है। सामान्य रूप से पर्याप्त का अर्थ पूर्ण और अपर्याप्त का अर्थ अपूर्ण है। पर्याप्त और अपर्याप्त ये दोनों शब्द जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। जन्म के प्रारम्भ में जीवनयापन के लिये आवश्यक पौद्‌गलिक शक्ति के निर्माण का नाम पर्याप्ति है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास, भाषा और मन ये छह प्रकार की शक्तियाँ हैं। इस शक्ति-विशेष को प्राणी उस समय ग्रहण करता है जब एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है। पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है और पूर्णता क्रमिक रूप से। आहार पर्याप्ति की पूर्णता एक समय में हो जाती है पर शेष पर्याप्तियों के पूर्ण होने में अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है।

एकेन्द्रिय जीवों में चार पर्याप्तियां होती हैं–आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्‌वास। विकलेन्द्रिय जीवों के और असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के पांच पर्याप्तियां होती हैं–आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास और भाषा। संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के मन अधिक होने से छह पर्याप्तियां होती हैं। पहली तीन आहार, शरीर और इन्द्रिय को प्रत्येक जीव पूर्ण करता है। तीनों पर्याप्तियां पूर्ण करके ही जीव अगले भव का आयुष्य बांध सकता है। स्वयोग्य पर्याप्ति जो पूर्ण करे वह पर्याप्त है और जो पूर्ण न करे वह अपर्याप्त है।

एकेन्द्रिय जीव के स्वयोग्य पर्याप्तियाँ चार हैं। जो एकेन्द्रिय जीव चार पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, वह पर्याप्त कहलाता है और जो पूर्ण नहीं करता वह अपर्याप्त है। पर्याप्त के भी लब्धिपर्याप्त और करणपर्याप्त ये दो भेद हैं। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं किया है पर जो पूर्ण अवश्य करेगा वह लब्धि की दृष्टि से–लब्धिपर्याप्त है और जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर लिया है वह करण की अपेक्षा से करणपर्याप्त है। करण का अर्थ इन्द्रिय है। जिस जीव ने इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण कर ली है वह करणपर्याप्त है। इस तरह जो लब्धिपर्याप्त है वह करणपर्याप्त होकर ही मृत्यु को प्राप्त करता है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं किया है और न करेगा वह लब्ध्यपर्याप्तक है। जिस जीव ने स्वयोग्य

पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया है पर करेगा वह करणअपर्याप्त है। यहाँ पर यह स्मरण रखना है—देव और नारक लब्ध्यपर्याप्त नहीं होते पर करण-अपर्याप्त होते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्च जीव दोनों ही प्रकार के अपर्याप्तक होते हैं।

विकलेन्द्रियों के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन प्रकार हैं। जिन जीवों के सम्पूर्ण इन्द्रियां नहीं होती हैं वे विकलेन्द्रिय कहलाते हैं। दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव विकलेन्द्रिय हैं।

पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—संज्ञी और असंज्ञी। समनस्क को संज्ञी कहा है। यहाँ पर यह प्रश्न सहज ही उद्बुद्ध होता है कि समनस्क और संज्ञी इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है या भिन्न-भिन्न ? उत्तर में निवेदन है—संज्ञी और समनस्क ये दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। क्योंकि जो जीव संज्ञी है वह मन वाला अवश्य होगा। आगम साहित्य में संज्ञी शब्द का प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है तो दार्शनिक साहित्य में समनस्क शब्द का। जब दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है तो दार्शनिकों ने समनस्क शब्द का व्यवहार क्यों किया है ? हमारी दृष्टि से संज्ञा शब्द अनेक अर्थों को व्यक्त करता है। संज्ञा का सामान्य अर्थ है—चेतना या ज्ञान। चेतना और ज्ञान ये दोनों एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में भी हैं। पर वे संज्ञी नहीं हैं। किन्तु यहाँ पर संज्ञी से ज्ञानसंज्ञा वाले जीवों को ग्रहण नहीं किया है। अनुभवसंज्ञा के भी आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा ये चार प्रकार हैं। आहारसंज्ञा वेदनीयकर्म का उदय है और शेष तीनों संज्ञा मोहनीयकर्म के उदय का फल हैं। अनुभव-संज्ञा भी सभी संसारी जीवों में होती है।

आगम साहित्य में संज्ञा के दस प्रकार भी बताये हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा, लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा। ये दस संज्ञायें एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों में होती हैं। ये दस संज्ञाएं भी अनुभव रूप ही हैं। इस प्रकार ज्ञानरूप और अनुभवरूप संज्ञा के आधार पर संज्ञी नहीं कहा जा सकता।

जिस संज्ञा के आधार पर संज्ञी शब्द व्यवहृत हुआ है, वह संज्ञा तीन प्रकार की है—दीर्घकालिकी, हेतुवादिकी और दृष्टिवादिकी। जिसमें दीर्घकालिकी संज्ञा हो, वह संज्ञी है। दीर्घकालिकी संज्ञा में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में घटने वाली घटनाओं पर चिन्तन होता है।

दीर्घकालिकी संज्ञा को संप्रधारणसंज्ञा भी कहा है। ऐसे संज्ञी को समनस्क कहा है। देव, नारक, गर्भज तिर्यञ्च और गर्भज मनुष्य ये सभी संज्ञी हैं। इस प्रकार संसारी जीव के चौदह प्रकार हैं।

प्रस्तुत आगम में अनेक दृष्टियों से और अनेक प्रश्नों के माध्यम से जीव और जीव के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।

शरीर चर्चा

भगवतीसूत्र शतक सोलहवें, उद्देशक पहले में तथा अन्य स्थलों पर भी शरीर के सम्बन्ध में जिज्ञासाएं प्रस्तुत की हैं। भगवान् महावीर ने शरीर के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच प्रकार बताये हैं। आत्मा अरूप है, अशब्द है, अगन्ध है, अरस है और अस्पर्श है। इस कारण वह अदृश्य है। पर मूर्त शरीर से बन्धने के कारण वह दृग्गोचर होता है। आत्मा जब तक संसार में रहेगा वह स्थूल या सूक्ष्म शरीर के आधार से ही रहेगा। जीव की जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं वे प्रायः सभी शरीर के द्वारा होती हैं। औदारिक शरीर की निष्पत्ति स्थूल पुद्‌गलों के द्वारा होती है। उस शरीर का छेदन-भेदन भी होता है और मोक्ष की उपलब्धि भी इसी शरीर के द्वारा होती है। वैक्रिय शरीर के द्वारा विविध रूप निर्मित किये जा सकते हैं। मृत्यु के पश्चात् इस शरीर की अवस्थिति नहीं रहती। वह कपूर की तरह उड़ जाता है। नारक और देवों में यह शरीर सहज होता है, मनुष्य और तिर्यञ्च में यह शरीर लब्धि से प्राप्त होता है। विशिष्ट योगशक्तिसम्पन्न चतुर्दशपूर्वी मुनि किसी विशिष्ट प्रयोजन से जिस शरीर की संरचना करते हैं वह आहारक शरीर है। जो शरीर दीप्ति का कारण है और जिसमें आहार आदि पचाने की क्षमता है वह तैजस शरीर है। इस शरीर के अंगोपांग नहीं होते और पूर्ववर्ती तीनों शरीरों से यह शरीर सूक्ष्म होता है। जो शरीर चारों प्रकार के शरीरों का कारण है और जिस शरीर का निर्माण ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मपुद्‌गलों से होता है वह कार्मण शरीर है। तैजस और कार्मण शरीर प्रत्येक संसारी जीव के साथ रहते हैं। इन दोनों शरीरों के छूटते ही आत्मा मुक्त बन जाता है।

इन्द्रियाँ

भगवतीसूत्र शतक दो, उद्देशक चार में गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने इन्द्रियों के पांच प्रकार बताये हैं। एक निश्चित विषय का ज्ञान कराने वाली आत्म-चेतना इन्द्रिय है। ज्ञान आत्मा का गुण है वह

चेतना का अभिन्न अंग है। इसलिए आत्मा और ज्ञान के बीच में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता। पर जो आत्मा कर्मपुद्गलों से आबद्ध है, उसका ज्ञान आवृत हो जाता है। उस ज्ञान को प्रकट करने का माध्यम इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के भी दो प्रकार हैं–द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इन्द्रियों का आकार विशेष द्रव्येन्द्रिय है। यह आकार संरचना पौद्गलिक है इसलिए द्रव्येन्द्रिय के भी निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय ये दो प्रकार हैं। यहाँ पर निवृत्ति का अर्थ आकार-रचना है। यह आकार-रचना बाह्य और आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार की है। बाह्य आकार प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् होता है, पर सभी का आभ्यन्तर आकार एक सदृश होता है। द्रव्येन्द्रिय का दूसरा प्रकार उपकरणद्रव्येन्द्रिय है। इन्द्रिय की आभ्यन्तर निवृत्ति में स्व-स्व विषय को ग्रहण करने की जो शक्ति-विशेष है, वह उपकरणद्रव्येन्द्रिय है। उपकरणद्रव्येन्द्रिय के क्षतिग्रस्त हो जाने पर निवृत्तिद्रव्येन्द्रिय कार्य नहीं कर पाती। भावेन्द्रिय के भी लब्धिभावेन्द्रिय और उपयोगभावेन्द्रिय ये दो प्रकार हैं। ज्ञान करने की क्षमता लब्धिभावेन्द्रिय है। यह शक्ति ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। शक्ति प्राप्त होने पर भी वह शक्ति तब तक कार्यकारिणी नहीं होती जब तक उसका उपयोग न हो। अतः ज्ञान करने की शक्ति और उस शक्ति को काम में लेने के साधन उपलब्ध करने पर भी उपयोगभावेन्द्रिय के अभाव में सारी उपलब्धियाँ निरर्थक हो जाती हैं।

भाषा

भगवतीसूत्र शतक तेरह, उद्देशक सात में भाषा के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है। भाषावर्गणा के पुद्गल किस प्रकार ग्रहण किये जाते हैं, आदि के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। वैशेषिक और नैयायिक दर्शन की तरह जैनदर्शन शब्द को आकाश का गुण नहीं मानता, पर वह भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक प्रकार का विशिष्ट परिणाम मानता है। जो शब्द आत्मा के प्रयास से समुत्पन्न होते हैं वे प्रयोगज हैं और बिना प्रयास के जो समुत्पन्न होते हैं वे वैश्रसिक हैं, जैसे बादलों की गर्जना। भाषा रूपी है या अरूपी है? इसके उत्तर में कहा गया–भाषा रूपी है, अरूपी नहीं। गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीवों की भाषा होती है या अजीवों की ? भगवान् ने समाधान दिया–जीव ही भाषा बोलते हैं, अजीव नहीं और जो बोली जाती है वही भाषा है। भाषा के सम्बन्ध में प्रज्ञापनासूत्र की प्रस्तावना में हमने विस्तार से लिखा है। अतः जिज्ञासु उसका अवलोकन करें।

मन और उसके प्रकार

भगवतीसूत्र शतक तेरह, उद्देशक सात में गणधर गौतम ने मन के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की हैं। आगम साहित्य में मन के लिए 'अनिन्द्रिय' और 'नोइन्द्रिय' शब्दों का प्रयोग हुआ है। मन इन्द्रिय तो नहीं है पर इन्द्रिय-सदृश है। वह भी इन्द्रियों के समान विषयों को ग्रहण करता है। मन के भी द्रव्यमन और भावमन ये दो प्रकार हैं। द्रव्यमन पुद्गल रूप होने से जड़ है तो भावमन ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम रूप होने से चेतन-स्वरूप है। भावमन सभी जीवों के होता है पर द्रव्यमन सभी के नहीं होता। प्रस्तुत आगम में द्रव्यमन के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा की गयी है कि मन आत्मा है या अन्य? भगवान् महावीर ने कहा—मन आत्मा नहीं पर पुद्गलस्वरूप है। मन पुद्गलस्वरूप है तो वह रूपी है या अरूपी है ? समाधान दिया गया—मन रूपी है। पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की—मन जीव के होता है या अजीव के ? समाधान—मन जीव के होता है, अजीव के नहीं और उस मन के सत्यमन, असत्यमन, मिश्रमन और व्यवहारमन, ये चार प्रकार हैं। दिगम्बरपरम्परा के अनुसार मन का स्थान हृदय में है, उन्होंने मन का आकार आठ पंखुड़ी वाले कमल के सदृश माना है, पर श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। **'यत्र पवनस्तत्र मनः'** शरीर में जहाँ-जहाँ पर पवन है, वहाँ-वहाँ पर मन है। जैसे पवन सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है वैसे मन भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

भाव और उसके प्रकार

भगवतीसूत्र शतक सत्रह, उद्देशक पहले में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! भाव के कितने प्रकार हैं ? भगवान् महावीर ने समाधान दिया—भाव के पांच प्रकार हैं। भाव का अर्थ है—कर्मों के संयोग या वियोग से होने वाली जीव की अवस्था-विशेष। संसारी जीव अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त नहीं है। अनादिकाल से वह कर्ममल से लिप्त है। जब तक कर्ममल नष्ट नहीं होता तब तक बन्ध, उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम प्रभृति से होने वाली नाना प्रकार की परिणतियों में वह परिणत होता रहता है। कर्मों के उदय से होने वाली आत्मा की अवस्था औदयिक भाव है। इसे अपर शब्दों में उदयनिष्पन्न भाव भी कह सकते हैं। यह आठों कर्मों का होता है। जब मोहकर्म का उपशम होता है तब आत्मा की जो अवस्था होती है वह औपशमिक भाव है। उदय आठों कर्मों का होता है पर उपशम केवल

मोहनीयकर्म का ही होता है। उपशम काल में मोह पूर्ण रूप से प्रभावहीन हो जाता है, पर उपशम स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्तमात्र की है। अतः जीव को पुनः पुनः प्रयत्न करना पड़ता है। कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मा की अवस्था क्षायिक या क्षयनिष्पन्न भाव है। कर्मों का क्षय हो जाने से पुनः किसी कर्म का बन्ध नहीं होता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाति कर्मों के हलकेपन से आत्मा की जो अवस्था होती है वह क्षायोपशमिक या क्षयोपशमनिष्पन्न भाव कहलाता है। जितना आत्मा पुरुषार्थ करता है उतना ही वह कर्म के भार से हलकापन अनुभव करता है। यह हलकापन ही क्षायोपशमिक भाव है। उपशम और क्षयोपशम भाव में विपाक रूप में उदयाभाव की स्थिति एक सदृश होती है। औपशमिक भाव में प्रदेशरूप में उदय नहीं होता, पर क्षायोपशमिक भाव में प्रतिपल प्रतिक्षण कर्म का उदय, वेदन और क्षय होता रहता है। इस कर्मक्षय के साथ ही भविष्यकाल में उदयप्राप्त कर्मों का उपशमन होता है। इसलिए यह भाव क्षयोपशमनिष्पन्न भाव कहलाता है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना स्वभावतः जीव में जो परिणतियाँ होती हैं, वह पारिणामिक भाव है। इस प्रकार भाव के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएँ गणधर गौतम के द्वारा प्रस्तुत की गईं और भगवान् ने उन जिज्ञासाओं का समाधान दिया।

योग और उसके प्रकार

भगवतीसूत्र शतक सोलह, उद्देशक तीन में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–योग कितने प्रकार का है ? भगवान् ने योग के तीन प्रकार बतलाये–मन, वचन और काय। योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है, पर वर्तमान में मुख्य रूप से योग शब्द दो अर्थ में व्यवहृत है–मिलन और समाधि। आज साधना-पद्धति और आसन आदि के अर्थ में उसका अधिक प्रचार है। पर जैनपरिभाषा में योग का अर्थ मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति है। योग एक प्रकार का स्पन्दन है जो आत्मा और पुद्गलवर्गणा के संयोग से होता है। वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम व नामकर्म के उदय से मन, वचन और काय वर्गणा के संयोग से जो आत्मा की प्रवृत्ति होती है वह योग है। इन तीन योगों में काययोग संसार के प्रत्येक प्राणी में होता है। स्थावरों में केवल काययोग होता है। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में काययोग और वचनयोग होते हैं। संज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्चों में तीनों योग होते हैं। भगवतीसूत्र शतक पच्चीस, उद्देशक पहले में इन तीनों योगों के विस्तार से पन्द्रह प्रकार भी बताये हैं।

कषाय चर्चा

भगवतीसूत्र शतक अठारह, उद्देशक चार में भगवान् ने कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार बताये हैं। कषाय शब्द भी जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कष् और आय इन दो शब्दों के मेल से बना है। कष् का अर्थ संसार, कर्म और जन्म-मरण है। जिसके द्वारा प्राणी कर्मों से बांधा जाता है या जिससे जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है, वह कषाय है। कषाय ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं जो कलुषित हैं, इसी कारण कषाय को संसार का मूल कहा है।

उपयोग और उसके प्रकार

भगवतीसूत्र शतक सोलह, उद्देशक सात में उपयोग के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है। भगवान् ने उपयोग के साकार और निराकार ये दो भेद किये और साकार उपयोग में ज्ञान और निराकार उपयोग में दर्शन को लिया है। साकार उपयोग के आठ प्रकार और निराकार उपयोग यानी दर्शन के चार प्रकार बताये हैं। ज्ञान और दर्शन-रूप चेतना का जो व्यापार यानी प्रवृत्ति है, वह उपयोग है। उपयोग को जीव का लक्षण माना है। इसलिए प्रत्येक प्राणी में उपयोग है, पर अविकसित प्राणियों का उपयोग अव्यक्त होता है और विकसित प्राणियों का व्यक्त होता है। उपयोग की प्रबलता का कारण है ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म का क्षय और क्षयोपशम। जितना अधिक क्षयोपशम होगा उतना ही अधिक उपयोग निर्मल होगा। ज्ञानोपयोग में ज्ञेय पदार्थ की भिन्न-भिन्न आकृतियों की प्रतीति होती है तो दर्शनोपयोग में एकाकार प्रतीति होती है। उसमें ज्ञेय पदार्थ के अस्तित्व का ही बोध होता है। इसलिए उसमें आकार नहीं बनता। ज्ञान के जो पांच और अज्ञान के जो तीन प्रकार बताये हैं, उसका कारण सम्यक्त्व और मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण ज्ञान भी अज्ञान में बदल जाता है। मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान विशिष्ट साधकों को ही होते हैं इसलिए वे ज्ञान ही हैं, यहाँ यह भी जिज्ञासा हो सकती है–ज्ञान के पांच और दर्शन के चार ही भेद क्यों बताये? मन:पर्यव को दर्शन क्यों नहीं कहा? उत्तर है–मन:पर्यवज्ञान में मन की विविध आकृतियों को जीव ज्ञान से पकड़ता है, इसलिए वह ज्ञान है। दर्शन का विषय निराकार है। इसलिए मन:पर्यव दर्शन नहीं है।

लेश्या : एक चिन्तन

भगवतीसूत्र शतक एक, उद्देशक दो में गणधर गौतम ने लेश्या के सम्बन्ध में भगवान् महावीर से पूछा–भगवन् ! लेश्या के कितने प्रकार हैं? भगवान् महावीर ने लेश्या के छः प्रकार बताये। वे हैं–कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। इन छः लेश्याओं में तीन प्रशस्त और तीन अप्रशस्त हैं। लेश्या शब्द भी जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है–जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है, जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है या बन्धन में आती है, वह लेश्या है। लेश्या के भी दो प्रकार हैं–द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। द्रव्यलेश्या सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से निर्मित वह आंगिक संरचना है जो हमारे मनोभावों और तज्जनित कर्मों का सापेक्षरूप में कारण या कार्य बनती है। उत्तराध्ययन की टीका के अनुसार लेश्याद्रव्य कर्मवर्गणा से निर्मित हैं। आचार्य वादीवैताल शान्तिसूरि के अभिमतानुसार लेश्याद्रव्य बध्यमान कर्मप्रभारूप है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार लेश्या योगपरिणाम है, जो शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है।[३०१]

भावलेश्या आत्मा का अध्यवसाय या अन्तःकरण की वृत्ति है। पं. सुखलालजी संघवी के शब्दों में कहा जाय तो भावलेश्या आत्मा का मनोभाव-विशेष है जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम प्रभृति अनेक भेद होने से लेश्या के भी अनेक प्रकार हैं। मनोभाव या संकल्प आन्तरिक तथ्य ही नहीं अपितु ये क्रियाओं के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति भी चाहते हैं। संकल्प ही कर्म में रूपान्तरित होता है। अतः जैनमनीषियों ने जब लेश्यापरिणाम की चर्चा की तो वे केवल मनोदशाओं के चित्रण तक ही आबद्ध नहीं रहे अपितु उन्होंने उस मनोदशा से समुत्पन्न जीवन के कर्मक्षेत्र में होने वाले व्यवहारों की भी चर्चा की है। इस तरह लेश्या का षट्विध वर्गीकरण किया गया है और उनके द्वारा जो विचारप्रवाह प्रवाहित होता है उस सम्बन्ध में भी आगमकारों ने प्रकाश डाला है। किन जीवों में कितनी लेश्याएँ होती हैं, इस पर भी चिन्तन किया है। यह वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विस्तारभय से हम इस पर तुलनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि से विचार नहीं कर पा रहे हैं। इस विषय पर हमने चिन्तन के विविध आयाम ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है, प्रबुद्ध पाठक वहाँ अवलोकन करने का कष्ट करें।

शतक एक, उद्देशक चार में गणधर गौतम ने मोक्ष के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की कि मोक्ष कौन प्राप्त करता है? भगवान् ने कहा—जो चरमशरीरी है, जिसने केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया है वही आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है। मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है। कर्ममल के अभाव में कर्मबन्धन भी नहीं रहता और बन्धन का अभाव ही मुक्ति है। साधक का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

इस प्रकार जीव के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। यह चिन्तन इतना व्यापक है कि उस सम्पूर्ण चिन्तन को यहाँ पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अतः मैं जिज्ञासु पाठकों को यह नम्र निवेदन करना चाहूंगा कि वे मूल आगम का पारायण करें, जिससे जैनदर्शन के जीवविज्ञान का सम्यक्परिज्ञान हो सकेगा।

कर्म : एक चिन्तन

जिस प्रकार जीवविज्ञान के सम्बन्ध में विस्तृत चिन्तन है उसी तरह कर्मविज्ञान के सम्बन्ध में भी विविध जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की गई हैं। आचार्य देवचन्द्र ने कर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है—जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है। पं. सुखलालजी ने लिखा है—मिथ्यात्व, कषाय प्रभृति कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म के भी द्रव्य और भाव ये दो प्रकार हैं। आत्मा के मानसिक विचार भावकर्म हैं और वे मनोभाव जिस निमित्त से होते हैं या जो उनका प्रेरक है वह द्रव्यकर्म है। आचार्य नेमिचन्द्र के शब्दों में कहा जाय तो पुद्गलपिण्ड द्रव्यकर्म हैं और चेतना को प्रभावित करने वाले भावकर्म हैं। आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री में द्रव्यकर्म को आवरण और भावकर्म को दोष के नाम से सूचित किया है। क्योंकि द्रव्यकर्म आत्मशक्तियों के प्रकट होने में बाधक है। इसलिए उसे आवरण कहा और भावकर्म स्वयं आत्मा की विभाव अवस्था है, अतः दोष है। भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। दोनों का परस्पर में बीजांकुर की तरह कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। जैनदृष्टि से द्रव्यकर्म पौद्गलिक होने से मूर्त्त हैं। कारण से कार्य का अनुमान होता है, वैसे ही कार्य से भी कारण का अनुमान होता है। इस दृष्टि से शरीर प्रभृति कार्य मूर्त्त हैं तो उनका कारण कर्म भी मूर्त्त होना चाहिए। कर्म की मूर्त्तता को सिद्ध करने के लिए मनीषियों ने कुछ तर्क इस प्रकार दिए हैं—कर्म मूर्त्त हैं क्योंकि उनसे सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है, जैसे

आहार से। कर्म मूर्त्त हैं क्योंकि उनसे वेदना होती है, जिस प्रकार अग्नि से। यदि कर्म अमूर्त्त होते तो उनके कारण सुख-दुःख आदि की वेदना नहीं हो सकती थी।

जिज्ञासा हो सकती है कि यदि कर्म मूर्त्त है तो फिर अमूर्त्त आत्मा पर कर्म का प्रभाव किस प्रकार गिरता है? वायु और अग्नि मूर्त्त हैं तो उनका अमूर्त्त आकाश पर प्रभाव नहीं होता। वैसे ही अमूर्त्त आत्मा पर मूर्त्तकर्म का प्रभाव नहीं होना चाहिए। उत्तर में निवेदन है कि ज्ञान गुण अमूर्त्त है, उस अमूर्त्त गुण पर मदिरा आदि मूर्त्त वस्तुओं का असर होता है। वैसे ही अमूर्त्त जीव पर मूर्त्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त अनादिकालिक कर्मसंयोग के कारण आत्मा कथंचित् मूर्त्त है। अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध रहा हुआ होने से स्वरूप से अमूर्त्त होने पर भी कथंचित् वह मूर्त्त है। इस दृष्टि से मूर्त्तकर्म का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। जब तक आत्मा कार्मण शरीर से मुक्त नहीं होता तब तक कर्म अपना प्रभाव दिखाते ही हैं। जैन मनीषियों ने आत्मा और कर्म का सम्बन्ध 'नीर-क्षीरवत्' या 'अग्नि-लोहपिण्डवत्' माना है। यहाँ पर यह भी प्रश्न समुत्पन्न हो सकता है- कर्म जड़ हैं। वे चेतन को प्रभावित करते हैं तो फिर मुक्तावस्था में भी वे आत्मा को प्रभावित करेंगे। फिर मुक्ति का अर्थ क्या रहा? यदि वे एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते हैं तो फिर बन्ध की प्रक्रिया कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर 'समयसार'[३०२] ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार दिया है- सोना कीचड़ में रहता है तो भी उस पर जंग नहीं लगता, जबकि लोहे पर जंग आ जाता है। शुद्धात्मा कर्मपरमाणुओं के बीच में रहकर भी वह विकारी नहीं बनता। कर्मपरमाणु उसी आत्मा को प्रभावित करते हैं, जो रागद्वेष से ग्रसित हैं।

जब रागादि भावकर्म होते हैं तभी द्रव्यकर्मों को आत्मा ग्रहण करता है। भावकर्म के कारण ही द्रव्यकर्म का आस्रव होता है और वही द्रव्यकर्म समय आने पर भावकर्म का कारण बन जाता है। इस प्रकार का कर्मप्रवाह सतत चलता रहता है। कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से हुआ? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए पूर्वाचार्यों ने कहा है कि एक कर्म-विशेष की अपेक्षा कर्म सादि है और कर्मप्रवाह की दृष्टि से वह अनादि है। यह नहीं कि आत्मा पहले कर्ममुक्त था, बाद में कर्म से आबद्ध हुआ। कर्म अनादि हैं, अनादि काल से चले आ रहे हैं और जब तक रागद्वेषरूपी कर्मबीज जल नहीं जाता है तब तक कर्मप्रवाह-परम्परा भी समाप्त नहीं होती।

भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक २ में गणधर गौतम ने यह जिज्ञासा प्रस्तुत की कि प्राणी स्वकृत सुख और दुःख को भोगता है या परकृत सुख और दुःख को भोगता है? भगवान् महावीर ने यह स्पष्ट किया कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख को भोगता है, परकृत सुख-दुःख को नहीं।

भगवतीसूत्र शतक ६, उद्देशक ९ में और शतक ८, उद्देशक १० में कर्म की आठ प्रकृतियाँ बताई हैं और उनके अल्प-बहुत्व पर भी चिन्तन किया है और शतक ६, उद्देशक ३ में आठों कर्मों की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। शतक ६, उद्देशक ३ में कर्म कौन बाँधता है? इसके उत्तर में कहा है कि तीनों वेद वाले कर्म बाँधते हैं। असंयत, संयत, संयतासंयत, सभी कर्म बाँधते हैं किन्तु नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत यानी सिद्ध कर्म नहीं बाँधते हैं। इसी प्रकार संज्ञी, भवसिद्धिक, चक्षुदर्शनी, पर्याप्त और अपर्याप्त, परीत, अपरीत, मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी, आहारक, अनाहारक कौन कर्म बाँधते हैं, इस पर भी गहराई से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। शतक १८, उद्देशक ३ में माकन्दीपुत्र ने भगवान् से पूछा–एक जीव ने पापकर्म किया है या अब करेगा, इन दोनों में क्या अन्तर है? भगवान् ने बाण के रूपक द्वारा इस प्रश्न का समाधान दिया। शतक १, उद्देशक ३ में गणधर गौतम ने पूछा–जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार बांधता है? इस प्रश्न के समाधान में भगवान् ने बाँधने की सारी प्रक्रिया प्रस्तुत की।

इस तरह विविध प्रश्न कर्म के सम्बन्ध में विभिन्न जिज्ञासुओं ने भगवान् महावीर के सामने रखे और भगवान् ने उन प्रश्नों का सटीक समाधान प्रस्तुत किया। वस्तुतः जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त बहुत ही अनूठा और अद्भुत है। आगमसाहित्य में आये हुए कर्मसिद्धान्त के बीजसूत्रों को परवर्ती आचार्यप्रवरों ने इतना अधिक विस्तृत किया कि आज लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण श्वेताम्बर कर्म साहित्य है, तो दो लाख श्लोक प्रमाण दिगम्बर मनीषियों द्वारा लिखा हुआ कर्म साहित्य है। मैंने 'कर्म विज्ञान' नामक ग्रन्थ भाग–एक से लेकर चार तक में विविध दृष्टियों से विस्तार से कर्म पर चिन्तन किया है अतः पाठक उन्हें पढ़ें।

■

पुद्गल : एक चिन्तन

पुद्गल जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द रहा है जिसे आधुनिक विज्ञान ने मैटर (matter) और न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने भौतिक तत्त्व कहा है, उसे ही जैन दार्शनिकों ने पुद्गल कहा है। बौद्धदर्शन में पुद्गल शब्द का व्यवहार 'आलय-विज्ञान' या 'चेतना-संतति' रहा है। पर जैनदर्शन में पुद्गल शब्द मूर्त्तद्रव्य के अर्थ में है। केवल भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक १० में अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को भी पुद्गल कहा है। पर शेष सभी स्थलों पर पुद्गल को पूरणगलनधर्मी कहा है। 'तत्त्वार्थराजवार्तिक,[३०३] सिद्धसेनीया 'तत्त्वार्थवृत्ति',[३०४] धवला[३०५] और हरिवंशपुराण,[३०६] आदि अनेक ग्रन्थों में गलन-मिलन स्वभाव वाले पदार्थ को पुद्गल कहा है।

पुद्गल वह है जिसका स्पर्श किया जा सके, जिसका स्वाद लिया जा सके, जिसकी गन्ध ली जा सके और जिसे निहारा जा सके। पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। यह बात भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १० में स्पष्ट की गई है।

भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १० में पुद्गल के चार प्रकार बताये हैं– (१) स्कन्ध, (२) देश, (३) प्रदेश और (४) परमाणु[३०७]। दो से लेकर अनन्त परमाणुओं का एकीभाव स्कन्ध है। कम से कम दो परमाणु पुद्गल के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध का जब भेद होता है तो वे दोनों परमाणु बन जाते हैं। तीन परमाणुओं के मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके पृथक् होने पर दो विकल्प हो सकते हैं–एक तीन परमाणु या एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध। इसी प्रकार अनन्त परमाणुओं के स्वाभाविक मिलन से एक लोकव्यापी महास्कन्ध भी बन जाता है।

आचार्य उमास्वाति ने लिखा है[३०८] स्कन्ध का निर्माण तीन प्रकार से होता है–भेदपूर्वक, संघातपूर्वक, भेद और संघातपूर्वक। स्कन्ध एक इकाई है। उस इकाई का बुद्धिकल्पित एक विभाग स्कन्धदेश कहलाता है। हम जिसे देश कहते हैं वह स्कन्ध से पृथक् नहीं है। यदि पृथक् हो जाय तो वह स्वतन्त्र स्कन्ध बन जायेगा। स्कन्धप्रदेश स्कन्ध से अपृथक्भूत अविभाज्य अंश है। अर्थात् परमाणु जब तक स्कन्धगत है तब तक वह स्कन्धप्रदेश

कहलाता है। वह अविभागी अंश सूक्ष्मतम है, जिसका पुनः अंश नहीं बनता। जब तक वह स्कन्धगत है वह प्रदेश है और अपनी पृथक् अवस्था में वह परमाणु है। भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ७ में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि परमाणुपुद्‌गल अविभाज्य है, अछेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है और अग्राह्य है। वह तलवार की तीक्ष्ण धार पर भी रह सकता है। तलवार उसका छेदन-भेदन नहीं कर सकती और न जाज्वल्यमान अग्नि उसको जला सकती है। प्रदेश और परमाणु में केवल स्कन्ध से अपृथक्‌भाव और पृथक्‌भाव का अन्तर है। अनुसंधान से यह निश्चित हो चुका है कि परमाणुवाद की चर्चा सर्वप्रथम भारत में हुई और उसका श्रेय जैन मनीषियों को है।[३०१]

भगवतीसूत्र शतक आठ, उद्देशक पहले में जीव और पुद्‌गल की पारस्परिक परिणति को लेकर पुद्‌गल के तीन भेद किये हैं–१. प्रयोगपरिणत–जो पुद्‌गल जीव द्वारा ग्रहण किये गए हैं वे प्रयोगपरिणत हैं, जैसे–इन्द्रियाँ, शरीर आदि के पुद्‌गल। २. मिश्र परिणत–ऐसे पुद्‌गल जो जीव द्वारा मुक्त होकर पुनः परिणत हो चुके हैं, जैसे–मल-मूत्र, श्लेष्म-केश आदि। ३. विस्रसापरिणत–ऐसे पुद्‌गल जिनके परिणमन में जीव की सहायता नहीं होती। वे स्वयं ही परिणत होते हैं, जैसे–बादल, इन्द्रधनुष आदि।

शतक १४, उद्देशक ४ में यह बताया है कि पुद्‌गल शाश्वत भी हैं और अशाश्वत भी हैं। वे द्रव्यरूप से शाश्वत और पर्यायरूप से अशाश्वत हैं। परमाणु संघात (स्कन्ध) रूप में परिणत होकर पुनः परमाणु हो जाता है। इस कारण से वह द्रव्य की दृष्टि से चरम नहीं है किन्तु क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से वह चरम भी है और अचरम भी है।

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ८ में बताया है कि परमाणु, परमाणु के रूप में कम से कम रहे तो एक समय और अधिक से अधिक समय तक रहे तो असंख्यात काल तक रहता है। इसी प्रकार स्कन्ध, स्कन्ध के रूप में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रहता है। इसके बाद अनिवार्य रूप से उसमें परिवर्तन होता है। एक परमाणु स्कन्धरूप में परिणत होकर पुनः परमाणु हो जाय तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल लग सकता है। द्व्यणुक-आदि व त्र्यणुक-आदि स्कन्धरूप में परिणत होने के बाद व परमाणु पुनः परमाणु रूप में आये तो कम से कम एक समय और अधिक से आधक अनन्त काल लग सकता है। एक परमाणु या स्कन्ध किसी आकाशप्रदेश में अवस्थित है।

वह किसी कारण-विशेष से वहाँ से चल देता है और पुनः उसी आकाशप्रदेश में कम से कम एक समय में और अधिक से अधिक अनन्तकाल के पश्चात् आता है।

परमाणु द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से अप्रदेशी है। काल की दृष्टि से एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी है और उससे अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी है। भाव की दृष्टि से एक गुण वाला अप्रदेशी है और अधिक गुण वाला सप्रदेशी है। इस प्रकार अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व के सम्बन्ध में भी वहाँ विस्तार से चर्चा है।

पुद्गल जड़ होने पर भी गतिशील है। भगवतीसूत्र शतक १६, उद्देशक ८ में कहा है–पुद्गल का गतिपरिणाम स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं पर सहायक है। प्रश्न है–परमाणु में गति स्वतः होती है या जीव के द्वारा प्रेरणा देने पर होती है? उत्तर है–परमाणु में जीवनिमित्तक कोई भी क्रिया या गति नहीं होती, क्योंकि परमाणु जीव के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता और पुद्गण को ग्रहण किये बिना पुद्गल में परिणमन कराने की जीव में सामर्थ्य नहीं है।

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ७ में कहा गया है–परमाणु सकम्प भी होता है और अकम्प भी होता है। कदाचित् वह चंचल भी होता है, नहीं भी होता। उसमें निरन्तर कम्पनभाव रहता ही हो यह बात भी नहीं है और निरन्तर अकम्पनभाव रहता हो यह बात भी नहीं है। द्व्यणुक स्कन्ध में कदाचित् कम्पन और कदाचित् अकम्पन दोनों होते हैं। उनके द्व्यंश होने से उनमें देशकम्पन और देशअकम्पन दोनों प्रकार की स्थिति होती है। त्रिप्रदेशी स्कन्ध में भी द्विप्रदेशी स्कन्ध के सदृश कम्प और अकम्प की स्थिति होती है। केवल देशकम्प में एकवचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पों में अन्तर होता है। जैसे–एक देश में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता। देश में कम्प होता है, देशों में कम्प नहीं होता। देशों में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता। इस प्रकार चतुःप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक समझना चाहिए।

भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १ में पुद्गल परमाणु की मुख्य आठ वर्गणाएँ मानी हैं–

(१) औदारिकवर्गणाः–स्थूल पुद्गलमय है। इस वर्गणा से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर का निर्माण होता है।

(२) वैक्रियवर्गणाः–लघु, विराट्, हल्का, भारी, दृश्य, अदृश्य विभिन्न क्रियाएँ करने में सशक्त शरीर के योग्य पुद्गलों का समूह।

(३) आहारकवर्गणाः–योगशक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गलसमूह।

(४) तैजसवर्गणाः–तैजस शरीर के योग्य पुद्गलों का समूह।

(५) कार्मणवर्गणाः–ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों का समूह, जिनसे कार्मण नामक सूक्ष्म शरीर बनता है।

(६) श्वासोच्छ्वासवर्गणाः–आन-प्राण के योग्य पुद्गलों का समूह।

(७) वचनवर्गणाः–भाषा के योग्य पुद्गलों का समूह।

(८) मनोवर्गणाः–चिन्तन में सहायक होने वाला पुद्गल-समूह।

यहाँ पर वर्गणा से तात्पर्य है एक जाति के पुद्गलों का समूह। पुद्गलों में इस प्रकार की अनन्त जातियाँ हैं, यहाँ पर प्रमुख रूप से आठ जातियों का ही निर्देश किया है। इन वर्गणाओं के अवयव क्रमशः सूक्ष्म और अतिप्रचय वाले होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ अन्य पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस ये चार वर्गणाएँ अष्टस्पर्शी हैं। वे हल्की, भारी, मृदु और कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन ये तीन वर्गणाएँ चतुःस्पर्शी हैं। सूक्ष्मस्कन्ध हैं। इनमें शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष ये चार स्पर्श होते हैं। श्वासोच्छ्वासवर्गणा चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी दोनों प्रकार की होती है।

भगवतीसूत्र शतक १८, उद्देशक १० में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि परमाणु पुद्गल एक समय में लोक के पूर्व भाग से पश्चिम भाग में या पश्चिम के अन्त भाग से पूर्व के अन्त भाग में, दक्षिण के अन्त से उत्तर के अन्त भाग में, उत्तर से दक्षिण के अन्त भाग में या नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे जाने में समर्थ है? भगवान् ने कहा–हाँ गौतम ! समर्थ है और वह सारे लोक को एक समय में लांघ सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि परमाणु पुद्गल में कितना सामर्थ्य रहा हुआ है।

इस प्रकार भगवतीसूत्र में अनेक प्रश्न पुद्गल के संबंध में आये हैं। जिस प्रकार पुद्गलास्तिकाय के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ हैं, वैसे ही अन्य अस्तिकायों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की गई हैं। वैशेषिक, न्याय, सांख्य प्रभृति दर्शनों ने जीव, आकाश और पुद्गल ये तत्त्व माने हैं। उन्होंने पुद्गलास्तिकाय के स्थान पर प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों का उपयोग

किया है। सभी द्रव्यों का स्थान आकाश है किन्तु जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही गति और स्थितिशील हैं। धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य सम्पूर्ण आकाश में नहीं हैं, पर आकाश के कुछ ही भाग में हैं। वे जितने भाग में हैं उस भाग को लोकाकाश कहा है। लोकाकाश के चारों ओर अनन्त आकाश है। वह आकाश अलोकाकाश के नाम से विश्रुत है। भगवतीसूत्र में विविध प्रश्नों के द्वारा इस विषय पर बहुत ही गहराई से चिन्तन किया गया है। जहाँ पर धर्म-अधर्म, जीव-पुद्गल आदि की अवस्थिति होती है, वह लोक कहलाता है। लोक और अलोक की चर्चा भी भगवती में विस्तार से आई है। लोक और अलोक दोनों शाश्वत हैं। लोक के द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक आदि भेद भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १ में किये गये हैं। भगवती, शतक १२, उद्देशक ७ में लोक कितना विराट् है, इस पर प्रकाश डाला है। भगवती शतक ७, उद्देशक १ में लोक के आधार पर भी चिन्तन किया गया है। शतक १३, उद्देशक ४ में लोक के मध्य भाग के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। शतक ११, उद्देशक १० में अधोलोक, तिर्यक्लोक, ऊर्ध्वलोक का विस्तार से निरूपण है। शतक ५, उद्देशक २ में लवणसमुद्र आदि के आकार पर विचार किया गया है। इस प्रकार लोक के सम्बन्ध में भी अनेक जिज्ञासाएं और समाधान हैं। अन्य दर्शनों के साथ लोक के स्वरूप पर और वर्णन पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन किया जा सकता है, पर विस्तारभय से हम यहाँ उस सम्बन्ध में जिज्ञासु पाठकों को लेखक का 'जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण' देखने की प्रेरणा देते हैं।

समवसरण

भगवान् महावीर के युग में अनेक मत प्रचलित थे। अनेक दार्शनिक अपने-अपने चिन्तन का प्रचार कर रहे थे। आगम की भाषा में मत या दर्शन को समवसरण कहा है। जो समवसरण उस युग में प्रचलित थे, उन सभी को चार भागों में विभक्त किया है–क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी।

(१) क्रियावादी की विभिन्न परिभाषाएं मिलती हैं। प्रथम परिभाषा है कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं होती। इसलिए क्रिया का कर्त्ता आत्मा है। आत्मा के अस्तित्व को जो स्वीकार करता है वह क्रियावादी है। दूसरी परिभाषा है–क्रिया ही प्रधान है, ज्ञान का उतना मूल्य नहीं, इस प्रकार की विचारधारा वाले क्रियावादी हैं। तृतीय परिभाषा है–जीव-अजीव, आदि पदार्थों का जो

अस्तित्व मानते हैं वे क्रियावादी हैं। क्रियावादियों के एक सौ अस्सी प्रकार बताये हैं।

(२) अक्रियावादी का यह मन्तव्य था कि चित्तशुद्धि की ही आवश्यकता है। इस प्रकार की विचारधारा वाले अक्रियावादी हैं अथवा जीव आदि पदार्थों को जो नहीं मानते हैं वे अक्रियावादी हैं। अक्रियावादी के चौरासी प्रकार हैं।

(३) अज्ञानवादी–अज्ञान ही श्रेय रूप है। ज्ञान से तीव्र कर्म का बन्धन होता है। अज्ञानी व्यक्ति को कर्मबन्धन नहीं होता। इस प्रकार की विचारधारा वाले अज्ञानवादी हैं। उनके सड़सठ प्रकार हैं।

(४) विनयवादी–स्वर्ग, मोक्ष आदि विनय से ही प्राप्त हो सकते हैं। जिनका निश्चित कोई भी आचारशास्त्र नहीं, सभी को नमस्कार करना ही जिनका लक्ष्य रहा है वे विनयवादी हैं। विनयवादी के ३२ प्रकार हैं।

ये चारों समवसरण मिथ्यावादियों के ही बताये गये हैं। तथापि जीव आदि तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण क्रियावादी सम्यग्दृष्टि भी हैं। शतक ३०, उद्देशक १ में इन चारों समवसरणों पर विस्तार से विवेचन किया है।

भगवती शतक ४, उद्देशक ५ में जम्बूद्वीप के अवसर्पिणीकाल में जो सात कुलकर हुए हैं, उनके नाम विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशोमान्, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि हैं। कुलकरों के सम्बन्ध में जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की प्रस्तावना में हम विस्तार से लिख चुके हैं।

कालास्यवेशी

भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक ९ में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के कालास्यवेशी अनगार ने भगवान् महावीर के स्थविरों से पूछा–सामायिक क्या है? प्रत्याख्यान क्या है? संयम क्या है? संवर क्या है? विवेक क्या है? व्युत्सर्ग क्या है? क्या आप इनको जानते हैं? इनके अर्थ को जानते हैं? स्थविरों ने एक ही शब्द में उत्तर दिया–आत्मा ही सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम आदि है और आत्मा ही उसका अर्थ है। इससे स्पष्ट है कि जैनदर्शन की जो साधना है वह सब साधना आत्मा के लिए ही है।

पुनः कालास्यवेशी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–आत्मा सामायिक आदि है तो फिर आप क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की निन्दा, गर्हा क्यों करते हैं? क्योंकि निन्दा तो असंयम है। स्थविरों ने कहा–आत्मनिन्दा असंयम नहीं है।

आत्मनिन्दा करने से दोषों से बचा जाता है और आत्मा संयम में संस्थापित होता है। पर-निन्दा असंयम है। वह पीठ के मांस खाने के समान निन्दनीय है। पर स्व-निन्दा वही व्यक्ति कर सकता है जिसे अपने दोषों का परिज्ञान है। इसीलिए आगमसाहित्य में साधक के लिए 'निन्दामि, गरिहामि' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक १० में गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं कि एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है–ईर्यापथिकी और साम्परायिकी। क्या ये दोनों क्रियाएं साथ-साथ होती हैं?

भगवान् ने समाधान दिया–प्रस्तुत कथन मिथ्या है, क्योंकि जीव एक समय में एक ही क्रिया कर सकता है। ईर्यापथिकी क्रिया कषायमुक्त स्थिति में होती है तो साम्परायिकी क्रिया कषाययुक्त स्थिति में होती है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

भगवती में विविध प्रकार की वनस्पतियों का भी उल्लेख है। वनस्पतिविज्ञान पर प्रज्ञापना में भी विस्तार से वर्णन है। वनस्पति अन्य जीवों की तरह श्वास ग्रहण करती है, निःश्वास छोड़ती है। आहार आदि ग्रहण करती है। इनके शरीर में भी चय-अपचय, हानि-वृद्धि, सुख-दुःखात्मक अनुभूति होती है। सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बोस ने अपने परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति में क्रोध भी पैदा होता है, और वह प्रेम भी प्रदर्शित करती है। प्रेम-पूर्ण सद्व्यवहार से वनस्पति पुलकित हो जाती है और घृणापूर्ण व्यवहार से मुर्झा जाती है। बोस के प्रस्तुत परीक्षण ने समस्त वैज्ञानिक जगत् को एक अभिनव प्रेरणा प्रदान की है। जिस प्रकार वनस्पति के संबंध में वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसमें जीवन है, इसी प्रकार सुप्रसिद्ध भूगर्भ-वैज्ञानिक फ्रान्सिस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Ten Years under earth" में लिखा–मैंने अपनी विभिन्न यात्राओं के दौरान पृथ्वी के ऐसे-ऐसे विचित्र स्वरूप देखे हैं–जो आधुनिक पदार्थविज्ञान के विपरीत हैं। उस स्वरूप को वर्तमान वैज्ञानिक अपने आधुनिक नियमों से समझा नहीं सकते। मुझे ऐसा लगता है, प्राचीन मनीषियों ने पृथ्वी में जो जीवत्व शक्ति की कल्पना की है वह अधिक यथार्थ है, सत्य है। भगवतीसूत्र में तेजोलेश्या की अपरिमेय शक्ति प्रतिपादित की है। वह अंग, बंग, कलिंग आदि सोलह जनपदों को नष्ट कर सकती है। वह

शक्ति अतीत काल में साधना द्वारा उपलब्ध होती थी तो आज विज्ञान ने एटम बम आदि अणुशक्ति को विज्ञान के द्वारा सिद्ध कर दिया है कि पुद्गल की शक्ति कितनी महान् होती है।

इस प्रकार भगवतीसूत्र में सहस्रों विषयों पर गहराई से चिन्तन हुआ है। यह चिन्तन अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। इस आगम में स्वयं श्रमण भगवान् महावीर के जीवन के और उनके शिष्यों के एवं गृहस्थ उपासकों के व अन्यतीर्थिक संन्यासियों के और उनकी मान्यताओं के विस्तृत प्रसंग आये हैं। आजीवक सम्प्रदाय के अधिनायक गोशालक के सम्बन्ध में जितनी विस्तृत सामग्री प्रस्तुत आगम में है, उतनी अन्य आगमों में नहीं है। ऐतिहासिक तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और उनके अनुयायियों की तथा उनके चातुर्याम धर्म के सम्बन्ध में प्रस्तुत आगम में पर्याप्त जानकारी है। प्रस्तुत आगम से यह सिद्ध है कि भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के सैकड़ों श्रमण थे। उन श्रमणों ने भगवान् महावीर के अनुयायियों से और उनके शिष्यों से चर्चाएं कीं। वे भगवान् महावीर के ज्ञान से प्रभावित हुए। उन्होंने चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रत रूप धर्म को स्वीकार किया। इस आगम में महाराजा कूणिक और महाराजा चेटक के बीच जो महाशिलाकण्टक और रथमूसल संग्राम हुए थे, उन युद्धों का मार्मिक वर्णन विस्तार के साथ दिया गया है। इन युद्धों में क्रमशः चौरासी लाख और छियानवें लाख वीर योद्धाओं का संहार हुआ था। युद्ध कितना संहारकारी होता है, देश की सम्पत्ति भी विपत्ति के रूप में किस प्रकार परिवर्तित हो जाती है ! युद्ध में उन शक्तियों का संहार हुआ जो देश की अनमोल निधि थीं। इसलिए युद्ध की भयंकरता बताकर उससे बचने का संकेत भी प्रस्तुत आगम में है। इक्कीसवें शतक से लेकर तेईसवें शतक तक वनस्पतियों का जो वर्गीकरण किया गया है, वह बहुत ही दिलचस्प है। इस वर्णन को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि जैनमनीषी-गण वनस्पति के सम्बन्ध में व्यापक जानकारी रखते थे।

वनस्पतिकाय के जीव किस ऋतु में अधिक आहार करते हैं और किस ऋतु में कम आहार करते हैं, इस पर भी प्रकाश डाला है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से यह प्रसंग चिन्तनीय है। प्रस्तुत आगम में 'आलूअ' शब्द का प्रयोग अनन्तजीव वाली वनस्पति में हुआ है। यह 'आलू' अथवा 'आलुक' वनस्पति वर्तमान में प्रचलित ''आलू'' से भिन्न प्रकार की थी या यही है? भारत में पहले आलू की खेती होती थी या नहीं, यह भी अन्वेषणीय है।

प्रस्तुत आगम में इतिहास, भूगोल, खगोल, समाज और संस्कृति, धर्म और दर्शन और उस युग की राजनीति आदि पर जो विश्लेषण किया गया है वह शोधार्थियों के लिए अद्‌भुत है, अनूठा है। प्रश्नोत्तरों के माध्यम से जो आध्यात्मिक गुरु गंभीर तत्त्व समुद्घाटित हुए हैं, वह बोधप्रद हैं।

प्रस्तुत आगम में आजीवक संघ के आचार्य मंखलि गोशालक, जमाली, शिवराजर्षि, स्कन्धक संन्यासी आदि के प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उस युग में वर्तमान युग की तरह संकीर्ण सम्प्रदायवाद नहीं था। उस युग के संन्यासी सत्य को प्राप्त करने के लिए तत्पर रहते थे। यही कारण है कि स्कन्धक संन्यासी जिज्ञासु बनकर भगवान् महावीर के पास पहुंचे और जब उनकी जिज्ञासाओं का समाधान हो गया तो सम्प्रदायवाद सत्य को स्वीकार करने में बाधक नहीं बना। तत्त्व-चर्चा की दृष्टि से जयन्ती श्रमणोपासिका, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अनगार, सोमिल ब्राह्मण, कालास्यवेशीपुत्त और तुंगिया नगरी के श्रावकों के प्रश्न मननीय हैं। प्रस्तुत आगम में साधु, श्रावक और श्राविका के द्वारा किए गए प्रश्न आये हैं, पर किसी भी साध्वी के प्रश्न नहीं आये हैं। क्यों नहीं साध्वियों ने जिज्ञासाएं व्यक्त कीं? वे समवसरण में उपस्थित होती थीं, उनके अन्तर्मानस में भी जिज्ञासाओं का सागर उमड़ता होगा, पर वे मौन क्यों रहीं? यह विचारणीय है। प्रस्तुत आगम में जहाँ आजीवक, वैदिक परम्परा के तापस और परिव्राजक भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमण और भगवान् महावीर के चतुर्विध संघ का इसमें निर्देश है। तथागत बुद्ध महावीर के समकालीन थे और दोनों का विहरण क्षेत्र भी बिहार आदि प्रदेश थे। पर न तो स्वयं बुद्ध का भगवान् महावीर से साक्षात्कार हुआ और न किसी भिक्षु का ही। ऐसा क्यों? यह भी विचारणीय है। इसके अतिरिक्त पूर्णकाश्यप, अजितकेशकम्बल, प्रबुद्ध कात्यायन, संजयवेलट्ठीपुत्त, आदि जो अपने आपको जिन मानते थे तथा तीर्थंकर कहते थे, वे भी भगवान् महावीर से नहीं मिले हैं। यह भी चिन्तनीय है। गणित की दृष्टि से पार्श्वापत्यीय गांगेय अनगार के प्रश्नोत्तर अत्यन्त मूल्यवान् हैं।

भगवतीसूत्र का पर्यवेक्षण करने से यह भी पता चलता है कि भगवान् महावीर ने साध्वाचार के सम्बन्ध में एक विशेष क्रान्ति की थी और उस क्रान्ति से भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण अपरिचित थे। भगवान् महावीर ने स्त्रीत्याग और रात्रिभोजनविरमण रूप दो नियम बढ़ाये। उत्तराध्ययन में केशी-गौतम संवाद से स्पष्ट है कि महावीर ने पार्श्वनाथ की

परम्परा में प्रचलित रंग-बिरगे वस्त्रों के स्थान पर श्वेत वस्त्रों का उपयोग श्रमण के लिए आवश्यक माना। प्रतिक्रमण वर्षावास आदि कल्प में भी परिष्कार किया। पार्श्वापत्य स्थविरों को यह भी पता नहीं था कि भगवान् महावीर तीर्थंकर हैं। इसीलिए वे पहले वन्दन नमस्कार नहीं करते और न किसी प्रकार का विनयभाव ही दिखलाते हैं। वे सहज जिज्ञासा प्रस्तुत कर देते हैं। जब वे समाधान सुनते हैं तो उन्हें आत्मविश्वास हो जाता है कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। तीर्थंकर हैं। तभी वे नमस्कार करते हैं और चातुर्याम धर्म को छोड़कर पंच महाव्रत धर्म को स्वीकार करते हैं।

प्रस्तुत आगम में देवेन्द्र शक्र से भयभीत बना हुआ असुरेन्द्र चमर भगवान् महावीर की शरण में आकर बच जाता है। भौतिक वैभवसम्पन्न शक्ति भी जब कषाय से उत्प्रेरित होती है तो वह पागल प्राणी की तरह आचरण करने लगती है। स्वर्ग के देवों का महत्त्व भौतिक दृष्टि से भले ही रहा हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से वे तिर्यंच से भी एक कदम पीछे हैं। स्वर्ग प्राप्ति का कारण है उत्कृष्ट क्रियाकाण्ड का आचरण। यही कारण है कि जैन श्रमण वेशधारी साधक जो मिथ्यात्वी है, वह भी नवग्रैवेयक तक पहुँच जाता है, जबकि अन्य तापस आदि उस स्थान पर नहीं पहुँच पाते। हमारी दृष्टि से इसका यही कारण हो सकता है कि जैन श्रमणों का आचार अहिंसाप्रधान था। इसमें हिंसा आदि से पूर्ण रूप से बचा जाता है। जबकि अन्य तापस आदि उत्कृष्ट कठोर साधना तो करते थे, पर साथ ही कन्दमूल फलों का आहार भी करते, यज्ञ आदि भी करते। स्नान आदि के द्वारा षट्काय के जीवों की विराधना भी करते। इस हिंसा आदि के कारण ही वे उतनी उत्क्रान्ति नहीं कर पाते थे। दोनों ही मिथ्यादृष्टि होने पर भी वे हिंसा के कारण ही ऊँचे स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर सकते।

भगवान् महावीर के समय में यह मान्यता प्रचलित थी कि युद्ध में मरने वाले स्वर्ग में जाते हैं। इस मान्यता का निरसन भी प्रस्तुत आगम में किया गया है। युद्ध से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता अपितु न्यायपूर्वक युद्ध करने के पश्चात् युद्धकर्ता अपने दुष्कृत्यों पर अन्तर्हृदय से पश्चात्ताप करता है। उस पश्चात्ताप से आत्मा की शुद्धि होती है और वह स्वर्ग में जाता है। गीता के "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं" के रहस्य का उद्घाटन बहुत ही आकर्षक ढंग से प्रस्तुत आगम में हुआ है।

प्रस्तुत आगम में कितनी ही बातें पुनः-पुनः आई हैं। इसका कारण पिष्टपेषण नहीं, अपितु स्थानभेद, पृच्छकभेद और कालभेद है। प्रश्नोत्तर शैली में होने के कारण जिज्ञासु को समझाने के लिए उसकी पृष्ठभूमि बताना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होता है। जैसा प्रश्नकार का प्रश्न, फिर उत्तर में उसी प्रश्न का पुनरुच्चारण करना और उपसंहार में उस प्रश्न को पुनः दोहराना। कितने ही समालोचकों का यह भी कहना है कि अन्य आगमों की तरह भगवती का विवेचन विषयबद्ध, क्रमबद्ध और व्यवस्थित नहीं है। प्रश्नों का संकलन भी क्रमबद्ध नहीं हुआ है। उसके लिए मेरा नम्र निवेदन है कि यह इस आगम की अपनी महत्ता है, प्रामाणिकता है। गणधर गौतम के या अन्य जिस किसी के भी अन्तर्मानस में जिज्ञासाएं उद्बुद्ध हुई, उन्होंने भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत कीं और भगवान् ने उनका समाधान किया। संकलनकर्त्ता गणधर सुधर्मा स्वामी ने उस क्रम में अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं किया और उन प्रश्नों को उसी रूप में रहने दिया। यह दोष नहीं, किन्तु आगम की प्रामाणिकता को ही पुष्ट करता है।

कुछ समालोचक यह भी आक्षेप करते हैं कि प्रस्तुत आगम में राजप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, प्रश्नव्याकरण और नन्दी सूत्र में वर्णित विषयों के अवलोकन का सूचन किया गया है। इसलिए भगवती की रचना इन आगमों की रचना के बाद में होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भी यह निवेदन है कि यह जो सूचन है वह आगम-लेखन के काल का है। आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने जब आगमों का लेखन किया तब क्रमशः आगम नहीं लिखे। पूर्व लिखित आगमों में जो विषयवर्णन आ चुका था, उसकी पुनरावृत्ति से बचने के लिए पूर्व लिखित आगमों का निर्देश किया है। यह सत्य है कि भगवतीसूत्र के अर्थ के प्ररूपक स्वयं भगवान् महावीर हैं और सूत्र के रचयिता गणधर सुधर्मा हैं।

प्रस्तुत आगम की भाषा प्राकृत है। इसमें शौरसेनी के प्रयोग भी कहीं-कहीं पर प्राप्त होते हैं। किन्तु देशी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। भाषा सरल व सरस है। अनेक प्रकरण कथाशैली में लिखे गये हैं। जीवन-प्रसंगों, घटनाओं और रूपकों के माध्यम से कठिन विषयों को सरल करके प्रस्तुत किया गया है। मुख्य रूप से यह आगम गद्यशैली में लिखा हुआ है। प्रतिपाद्य विषय का संकलन करने की दृष्टि से संग्रहणीय गाथाओं के रूप में पद्य भाग भी प्राप्त होता है। कहीं-कहीं पर स्वतन्त्र रूप से प्रश्नोत्तर हैं, तो

कहीं पर घटनाओं के पश्चात् प्रश्नोत्तर आये हैं। जैन आगमों की भाषा को कुछ मनीषी आर्ष प्राकृत कहते हैं। यह सत्य है कि जैन आगमों में भाषा को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना भावों को दिया है। जैन मनीषियों का यह मानना रहा है कि भाषा आत्म-शुद्धि या आत्म-विकास का कारण नहीं है। वह केवल विचारों का वाहन है।

मंगलाचरण

प्रस्तुत आगम में प्रथम मंगलाचरण नमस्कार महामंत्र से और उसके पश्चात् **'नमो बंभीए लिवीए'** 'नमो सुयस्स' के रूप में किया है। उसके पश्चात् १५वें, १७वें, २३वें और २६वें शतक के प्रारम्भ में भी **"नमो सुयदेवयाए भगवईए"** इस पद के द्वारा मंगलाचरण किया गया है। इस प्रकार ६ स्थानों पर मंगलाचरण है, जबकि अन्य आगमों में एक स्थान पर भी मंगलाचरण नहीं मिलता है।

प्रस्तुत आगम के उपसंहार में **"इक्कचत्तालीसइमं रासीजुम्मसयं समत्तं"** यह समाप्तिसूचक पद उपलब्ध है। इस पद में यह बताया गया है कि इसमें १०१ शतक थे। पर वर्त्तमान में केवल ४१ शतक ही उपलब्ध होते हैं। समाप्तिसूचक इस पद के पश्चात् यह उल्लेख मिलता है कि–**"सव्वाए भगवईए अट्ठतीसं सयं सयाणं (१३८) उद्देसगाणं १९२५"** इन शतकों की संख्या अर्थात् अवान्तर शतकों को मिलाकर कुल शतक १३८ हैं और उद्देशक १९२५ हैं।

प्रथम शतक से बत्तीसवें शतक तक और इकतालीसवें शतक में कोई अवान्तर शतक नहीं हैं। तेतीसवें शतक से उनचालीसवें शतक तक जो सात शतक हैं, उनमें बारह-बारह अवान्तर शतक हैं। चालीसवें शतक में इक्कीस अवान्तर शतक हैं। अतः इन आठ शतकों की परिगणना १०५ अवान्तर शतकों के रूप में की गई है। इस तरह अवान्तर शतक रहित तेतीस शतकों और १०५ अवान्तर शतक वाले आठ शतकों को मिलाकर १३८ शतक बताये गये हैं। किन्तु संग्रहणी पद में जो उद्देशकों की संख्या 'एक हजार नौ सौ पच्चीस' बताई गई है, उसका आधार अन्वेषणा करने पर भी प्राप्त नहीं होता। प्रस्तुत आगम के मूल पाठ में इसके शतकों और अवान्तर शतकों की उद्देशकों की संख्या दी गई है। उसमें चालीसवें शतक के इक्कीस अवान्तर शतकों में से अन्तिम सोलह से इक्कीस अवान्तर शतकों के उद्देशकों की संख्या स्पष्ट रूप से नहीं दी गई है, किन्तु जैसे इस शतक से, पहले पन्द्रहवें

अवान्तर शतक से पहले प्रत्येक की उद्देशक संख्या ग्यारह बताई है, उसी तरह शेष अवान्तर शतकों में से प्रत्येक की उद्देशक संख्या ग्यारह-ग्यारह मान लें तो व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुल उद्देशकों की संख्या "एक हजार आठ सौ तेरासी" होती है। कितनी प्रतियों में "**उद्देसगाण**" इतना ही पाठ प्राप्त होता है। संख्या का निर्देश नहीं किया गया है। इसके बाद एक गाथा है, जिसमें व्याख्याप्रज्ञप्ति की पदसंख्या चौरासी लाख बताई है। आचार्य अभयदेव ने इस गाथा की "**विशिष्ट सम्प्रदायगम्यानि**" कह कर व्याख्या की है। इसके बाद की गाथा में संघ की समुद्र के साथ तुलना की है और गौतम प्रभृति गणधरों को व भगवती प्रभृति द्वादशांगी रूप गणिपिटक को नमस्कार किया है। अन्त में शान्तिकर श्रुतदेवता का स्मरण किया गया है। साथ ही कुम्भधर ब्रह्मशान्ति यक्ष "वैरोट्या विद्यादेवी और अन्त हुण्डी" नामक देवी को स्मरण किया है। आचार्य अभयदेव का मन्तव्य है कि जितने भी नमस्कारपरक उल्लेख हैं, वे सभी लिपिकार और प्रतिलिपिकार द्वारा किये गये हैं। मूर्धन्य मनीषियों का मानना है कि नमोक्कार महामंत्र प्रथम बार इस अंग में लिपिबद्ध हुआ है।

यह आगम प्रश्नोत्तर शैली में आबद्ध है। गौतम की जिज्ञासाओं का श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा सटीक समाधान दिया गया है। इस अंग में दर्शन सम्बन्धी, आचार-सम्बन्धी, लोक-परलोक सम्बन्धी आदि अनेक विषयों की चर्चाएं हुई हैं। प्रश्नोत्तरशैली शास्त्ररचना की प्राचीनतम शैली है। इस शैली के दर्शन वैदिक परम्परा के मान्य उपनिषद् ग्रन्थों में भी होते हैं। यह आगम ज्ञान का महासागर है। कुछ बातें ऐसी भी हैं जो सामान्य पाठकों की समझ में नहीं आतीं। उस सम्बन्ध में वृत्तिकार आचार्य अभयदेव भी मौन रहे हैं। मनीषियों को उस पर चिन्तन करने की आवश्यकता है।

■

व्याख्यासाहित्य

भगवतीसूत्र मूल में ही इतना विस्तृत रहा कि इस पर मनीषी आचार्यों ने व्याख्याएँ कम लिखी हैं। इस पर न निर्युक्ति लिखी गयी, न भाष्य लिखा गया और न विस्तार से चूर्णि ही लिखी गयी। यों एक अतिलघु चूर्णि प्रस्तुत आगम पर है, पर वह भी अप्रकाशित है। उसके लेखक कौन रहे हैं, यह विज्ञों के लिए अन्वेषणीय है।

सर्वप्रथम भगवतीसूत्र पर नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति के नाम से एक वृत्ति लिखी है जो वृत्ति मूलानुसारी है। यह वृत्ति बहुत ही संक्षिप्त और शब्दार्थ प्रधान है। इस वृत्ति में जहाँ-तहाँ अनेक उद्धरण दिये गये हैं। इन उद्धरणों से आगम के गम्भीर रहस्यों को समझने में सहायता प्राप्त होती है। आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति में अनेक पाठान्तर भी दिये हैं और व्याख्याभेद भी दिये हैं, जो अपने आप में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। व्याख्या में सर्वप्रथम आचार्य ने जिनेश्वर देव को नमस्कार किया है। उसके पश्चात् भगवान् महावीर, गणधर सुधर्मा और अनुयोगवृद्धजनों को व सर्वज्ञप्रवचन को श्रद्धास्निग्ध शब्दों में नमस्कार किया है। उसके पश्चात् आचार्य ने व्याख्याप्रज्ञप्ति की प्राचीन टीका और चूर्णि तथा जीवाजीवाभिगम आदि की वृत्तियों की सहायता से प्रस्तुत आगम पर विवेचन करने का संकल्प किया है।[३१०]

वृत्तिकार ने व्याख्याप्रज्ञप्ति के विविध दृष्टियों से दस अर्थ भी बताये हैं, जो उनकी प्रखर प्रतिभा के स्पष्ट परिचायक हैं। व्याख्या में यत्र-तत्र अर्थवैविध्य दृग्गोचर होता है। मनीषियों का यह मानना है कि आचार्य अभयदेव ने जो प्राचीन टीका का उल्लेख किया है वह टीका आचार्य शीलांक की होनी चाहिए, पर वह टीका आज अनुपलब्ध है। आचार्य अभयदेव ने कहीं पर भी उस प्राचीन टीकाकार का नाम निर्देश नहीं किया है।

अनुश्रुति है कि आचार्य शीलांक ने नौ अंगों पर टीका लिखी थी। वर्तमान में आचारांग और सूयगडांग पर ही उनकी टीकाएँ प्राप्त हैं, शेष सात आगमों पर नहीं। आचार्य शीलांक के अतिरिक्त अन्य किसी भी आचार्य ने व्याख्या लिखी हो, यह उल्लेख प्राचीन साहित्य में नहीं है। स्वयं आचार्य

अभयदेव ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में चूर्णि का उल्लेख किया है, अतः प्राचीन टीका, चूर्णि नहीं हो सकती। वह अन्य वृत्ति ही होगी।

प्रत्येक शतक की वृत्ति के अन्त में आचार्य अभयदेव ने वृत्तिसमाप्तिसूचक एक-एक श्लोक दिया है। वृत्ति के अन्त में आचार्य ने अपनी गुरुपरम्परा बताते हुए लिखा है-विक्रम संवत् ११२८ में अणहिल पाटण नगर में प्रस्तुत वृत्ति लिखी गई। इस वृत्ति का श्लोक प्रमाण अठारह हजार छः सौ सोलह है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति पर दूसरी वृत्ति आचार्य मलयगिरि की है। यह वृत्ति द्वितीय शतक वृत्ति के रूप में विश्रुत है, जिसका श्लोकप्रमाण तीन हजार सात सौ पचास है। विक्रम संवत् १५८३ में हर्षकुल ने भगवती पर एक टीका लिखी। दानशेखर ने व्याख्याप्रज्ञप्ति लघुवृत्ति लिखी है। भावसागर ने और पद्मसुन्दर गणि ने भी व्याख्याएँ लिखी हैं। बीसवीं सदी में स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्री घासीलालजी म. ने भी भगवती पर व्याख्या लिखी है। इन सभी वृत्तियों की भाषा संस्कृत रही।

जब संस्कृत प्राकृत भाषाओं में टीकाओं की संख्या अत्यधिक बढ़ गई और उन टीकाओं में दार्शनिक चर्चाएँ चरम सीमा पर पहुँच गईं, जनसाधारण के लिए उन टीकाओं को समझना जब बहुत ही कठिन हो गया तब जनहित की दृष्टि से आगमों की शब्दार्थप्रधान संक्षिप्त टीकाएँ निर्मित हुईं। ये टीकाएँ बहुत संक्षिप्त लोकभाषाओं में सरल और सुबोध शैली में लिखी गयीं। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में स्थानकवासी आचार्य मुनि धर्मसिंहजी ने टब्बाओं का निर्माण किया। कहा जाता है कि उन्होंने सत्ताईस आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे थे। उसमें एक टब्बा व्याख्या प्रज्ञप्ति पर था। धर्मसिंह मुनि ने भगवती का एक यन्त्र भी लिखा था।

टब्बा के पश्चात् अनुवाद प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध है-अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी। भगवतीसूत्र के १४वें शतक का अनुवाद Hoernle Appendix ने किया और गुजराती अनुवाद पं. भगवानदास दोशी, पं. बेचरदास दोशी, गोपालदास जीवाभाई पटेल और घासीलालजी म. आदि ने किया। हिन्दी अनुवाद आचार्य अमोलकऋषिजी, मदनकुमार मेहता, पं. घेवरचन्दजी बांठिया आदि ने किया है।

अद्यावधि मुद्रित भगवतीसूत्र

सन् १९१८-२१ में व्याख्याप्रज्ञप्ति अभयदेव वृत्ति सहित धनपतसिंह रायबहादुर द्वारा बनारस से प्रकाशित हुई जो १४ शतक तक ही मुद्रित हुई थी। सन् १९१८ से १९२१ में अभयदेववृत्ति सहित आगमोदय समिति बम्बई से व्याख्याप्रज्ञप्ति प्रकाशित हुई है। सन् १९३७-४० में ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था रतलाम से अभयदेववृत्ति सहित चौदह शतक प्रकाशित हुए। विक्रम संवत् १९७४-१९७९ में छठे शतक तक अभयदेववृत्ति व गुजराती अनुवाद के साथ पं. बेचरदास दोशी का अनुवाद जिनागम प्रकाशन सभा, बम्बई से प्रकाशित हुआ और विक्रम संवत् १९८५ में भगवती शतक सातवें से पन्द्रहवें शतक तक मूल व गुजराती अनुवाद के साथ भगवानदास दोशी ने गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद से प्रकाशित किया। १९८८ में जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट अहमदाबाद से मूल व गुजराती अनुवाद प्रकाश में आया।

सन् १९३८ में गोपालदास जीवाभाई पटेल ने भगवती का संक्षेप में सार गुजराती छायानुवाद के साथ जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद से प्रकाशित करवाया।

आचार्य अमोलकऋषिजी म. ने बत्तीस आगमों के हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत आगम का भी हिन्दी अनुवाद हैदराबाद से प्रकाशित करवाया।

वि. सं. २०११ में मदनकुमार मेहता ने भगवतीसूत्र शतक एक से बीस तक हिन्दी में विषयानुवाद श्रुत-प्रकाशन मन्दिर कलकत्ता से प्रकाशित करवाया।

सन् १९३५ में भगवती विशेष पद व्याख्या दानशेखर द्वारा विरचित ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था रतलाम से प्रकाशित हुई है।

सन् १९६१ में हिन्दी और गुजराती अनुवाद के साथ पूज्य घासीलालजी म. द्वारा विरचित संस्कृत व्याख्या जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से अनेक भगों में प्रकाशित हुई।

विक्रम संवत् १९१४ में पंडित बेचरदास जीवराज दोशी द्वारा सम्पादित "विवाहपण्णत्तिसुत्तं" प्रकाशित हुआ। सन् १९७४ से "विवाहपण्णत्तिसुत्तं" के तीन भाग महावीर जैन विद्यालय बम्बई से मूल रूप में प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकाशन की अपनी मौलिक विशेषता है। इसका मूल पाठ प्राचीनतम

प्रतियों के आधार से तैयार किया गया है। पाठान्तर और शोधपूर्ण परिशिष्ट भी दिये गये हैं। शोधार्थियों के लिए प्रस्तुत आगम अत्यन्त उपयोगी है।

विक्रम संवत् २०२१ में मुनि नथमलजी द्वारा सम्पादित भगवई सूत्र का मूल पाठ जैन विश्वभारती लाडनूँ से प्रकाशित हुआ है। इस प्रति की यह विशेषता है कि इसमें जाव शब्द की पूर्ति की गई है। "सुत्तागमे" में मुनि पुप्फभिक्खुजी ने ३२ आगमों के साथ भगवती का मूल पाठ भी प्रकाशित किया है। संस्कृतिरक्षकसंघ सैलाना से "अंग सुत्ताणि" के भागों में भी मूल रूप में भगवतीसूत्र प्रकाशित है।

भगवतीसूत्र का हिन्दी अनुवाद विवेचन के साथ पंडित घेवरचन्दजी बांठिया द्वारा सम्पादित ७ भाग "साधुमार्गी संस्कृति रक्षक संघ सैलाना" से प्रकाशित हुए। विवेचन संक्षिप्त में और सारपूर्ण है।

भगवतीसूत्र पर आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. और सागरानन्द सूरीश्वरजी के भी प्रवचनों के अनेक भाग प्रकाशित हुए हैं। पर वे प्रवचन सम्पूर्ण भगवतीसूत्र पर नहीं हैं।

एक लेखक ने भगवती सूत्र पर शोधप्रबन्ध भी अंग्रेजी में प्रकाशित किया है और तेरापंथी आचार्य श्री जीतमलजी ने भगवती की जोड़ लिखी थी, उसका भी प्रथम भाग लाडनूँ से प्रकाशित हो चुका है। यह जोड़ भी राजस्थानी भाषा की एक मूल्यवान धरोहर है, जिसमें आगम जैसे गंभीर विषय को प्रचलित लोक भाषा एवं लोक रागिनियों के माध्यम से बहुत ही विद्वत्तापूर्ण किन्तु सुगम शैली में समझाया गया है।

स्वर्गीय युवाचार्य मधुकर मुनि जी म. की प्रेरणा से आगम बत्तीसी का प्रकाशन ब्यावर से हुआ। उसमें उपप्रवर्तक अमर मुनि जी एवं सहसम्पादक श्रीचन्द सुराना ने मूलपाठ, अनुवाद और विवेचन भी किया है जो चार भागों में प्रकाशित है।

■

सन्दर्भ और टिप्पण

१. आचारांग १/५/४
२. आचारांग १।६।३।
३. व्यवहारभाष्य, गाथा २०१।
४. अनुयोगद्वार
५. भगवती, ५।१।१९२।
६. स्थानाङ्ग, ३।५०४।
७. अनुयोगद्वार, सूत्र ५।
८. श्रूयते आत्मना तदिति श्रुतं शब्दः। —विशेषावश्यकभाष्य-मलधारीया वृत्ति
९. वलीहपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
पुत्थई आगमु लिहिओ, नवसय असीआओ वीराओ॥
१०. श्रुतं .... इन्द्रियमनोनिमित्तं ग्रन्थानुसारि विज्ञानं यत् .....।
—तत्त्वार्थभाष्य टीका १।२०
११. 'अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं' —आव. निर्युक्ति गा. १९२
१२. भगवती, २।५।
१३. भगवती, शतक २०, उद्देशक ८।
१४. तव नियमणाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गा. ८९-९०
१५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ११९२
१६. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १०६८ ;१३६७
१७. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १११९-११२४।
१८. देखिए विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ११२२ की टीका।
१९. (क) सुय-सुत्त-गन्थ-सिद्धंत-पवयणे आण-वयण-उवएसे।
पण्णवण-आगमे या एगट्ठा पज्जवा सुत्ते। —अनुयोगद्वार ४
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गा. ८।९७
२०. तत्त्वार्थभाष्य, १–२०
२१. नन्दीसूत्र, ४१
२२. स्थानांग सूत्र १५०
२३. भगवती, ५/७

२४. भगवती, ५/७
२५. राजवार्तिक, ५/२५/१
२६. सर्वार्थसिद्धि टीका-सूत्र ५/२५
२७. भगवती, ९/३४/२५३-२५४
२८. भगवती, १/१/३२
२९. Indian Pattern of Life and Thought—A Glimpse of its Early Phases;—Indo-Asian Culture—Page 47. Publication year 1959.—Dr. R. N. Dandekar.
३०. वाजसनेयी संहिता, ३०।
३१. ऋग्वेद, १० । ९०; १ । २४ । ३०; ९ । ३ ।
३२. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द ७,५१,६१-६३
३३. मनुस्मृति ५ । २२। २९। ४४।
३४. "It is therefore probable that the Jainas have borrowed their own vows from the Brahmans, not from the Buddhists".
—The Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction p. 24.
३५. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४ । ४ । २२ ।
३६. (क) जाबालोपनिषद् ४ ।
(ख) वशिष्ठ धर्मशास्त्र ७ । १ । २ ।
३७. तैत्तिरीयसंहिता ६ । ३ । १० । ५ ।
३८. ऋणमस्मिन् सनयत्यमृतत्त्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥
—ऐतरेय ब्राह्मण, ७वीं पंचिका, अध्याय ३
३९. जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं। —उत्तराध्ययन अ. १४, श्लो. १२
४०. गृहस्थ एव यजते, गृहस्थस्तप्यते तपः।
चतुर्णामश्रमाणं तु, गृहस्थश्च विशिष्यते॥
यथा नदी नदाः सर्वे, समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एवामाश्रमिणः सर्वे, गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ —वशिष्ठ-धर्मशास्त्र ८ । १४-१५
४१. संस्कृति के चार अध्याय, पृ. १२५
४२. (क) स घा नो योग आ भुवत्। —ऋग्वेद, १ । ५ । ३
(ख) स धीनां योगमिन्वति। —ऋग्वेद, १ । १८ । ७
(ग) कदा योगी वाजिनो रासभस्य। —ऋग्वेद १ । ३४ । ९
(घ) वाजयन्निव नू रथान् योगा अग्नेरुपस्तुहि। —ऋग्वेद २ । ८ । १

४३. (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति।

—कठोपनिषद् १ । २ । १२

(ख) तां योगमितिमन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययो॥—कठोपनिषद् २ । ३। ११

(ग) तैत्तिरीयोपनिषद् २ । १४

४४. योगराजोपनिषद्, अद्वयतारकोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्, दर्शनोपनिषद, ध्यानबिन्दूपनिषद्, हंस, ब्रह्मविद्या, शाण्डिल्य, वाराह, योगशिख, योगतत्त्व, योगचूडामणि, महावाक्य, योगकुण्डली, मण्डलब्राह्मण, पाशुपतब्राह्मण, नादबिन्दु, तेजोबिन्दु, अमृतबिन्दु, मुक्तिकोपनिषद्— इन सभी २१ उपनिषदों में योग का वर्णन हुआ है।

४५. समवायाङ्ग, सूत्र ९३

४६. नन्दीसूत्र ८५

४७. तत्त्वार्थवार्तिक १/२०

४८. षट्खंडागम, खण्ड १, पृष्ठ १०१

४९. कषायपाहुड, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १२५

५०. (क) ''वि-विविधा, आ-अभिविधिना, ख्या—ख्यानाति भगवतो महावीरस्य गौतमादीन् विनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्याः, ताः प्रज्ञाप्यन्ते, भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।

(ख) विवाह-प्रज्ञप्ति—अर्थात् जिसमें विविध प्रवाहों की प्रज्ञापना की गई है—वह विवाहप्रज्ञप्ति है।

(ग) इसी प्रकार 'विवाहपण्णत्ति' शब्द की व्याख्या में लिखा है—'विबाधाप्रज्ञप्ति' अर्थात् जिसमें निर्बाध रूप से अथवा प्रमाण से अबाधित निरूपण किया गया है, वह विवाहपण्णत्ति है।

५१. महायान बौद्धों में प्रज्ञापारमिता जो ग्रन्थ है उसका अत्यधिक महत्त्व है अतः अष्ट प्राहसिका प्रज्ञापारमिता का अपर नाम भगवती मिलता है।

—देखिए—शिक्षा समुच्चय, पृ. १०४-११२

५२. समवायाङ्ग, सूत्र ९३

५३. तत्त्वार्थवार्तिक, १।२०

५४. वह व्याख्यापद्धति, जिसमें प्रत्येक श्लोक और सूत्र की स्वतंत्र व्याख्या की जाती है और दूसरे श्लोकों और सूत्रों से निरपेक्ष व्याख्या भी की जाती है। वह व्याख्यापद्धति छिन्नछेदनय के नाम से पहचानी जाती है।

५५. कषायपाहुड भाग १, पृ. १२५

५६. एत्थ पुणं णियमो णत्थि, परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगल फलोवलंभादो।

—कषायपाहुड, भाग १, गा. १, पृ. ९

५७. तं मंगलमाइए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स।
पढमं सत्थसाविग्घपारगमणाए निद्दिट्ठं॥
तस्सेवाविग्घत्थं मज्झिमयं अंतिमं च तस्सेव।
अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स॥
— विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १३-१४

५८. 'मङ्गयतेऽधिगम्यते हितमनेनेति मंगलम्' .... 'मां गालयति भवादिति मङ्गलं—संसारादपनयति।' —दशवैकालिकटीका

५९. 'मंग्यतेऽलंक्रियतेऽनेनेति मंगलम्' .... 'मोदन्तेऽनेनेति मंगलम्' .... 'महान्ते-पूज्यन्तेऽनेनेति मंगलम्।' —विशेषावश्यकभाष्य

६०. कयपंचनमोक्कारो करेइ सामाइयंति सोऽभिहितो।
सामाइयंगमेव य जं सो सेसं अतो वोच्छं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२७

६१. नंदिमणुओगदारं विहिवदुवग्घाइयं च नाऊणं।
काऊण पंचमंगलमारंभो होइ सुत्तस्स॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १०२६

६२. सो सव्वसुतक्खंधब्भन्तरभूतो जओ ततो तस्स॥
आवासयाणुयोगादिगहणगहितोऽणुयोगो वि॥ —विशेषावश्यकभाष्य, गा. ९

६३. आईएँ नमोक्कारो जइ पच्छाऽऽवासयं तओ पुव्वं।
तस्स भणिएऽणुओगे जुत्तो आवस्सयस्स तओ॥ —विशेषावश्यकभाष्य, गा. ८

६४. नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रैयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः॥

६५. लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिणकरेणं। —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. २१२

६६. भारतीय जैनश्रमण संस्कृति अने लेखनकला। —आ. पुण्यविजयजी पृ. ५

६७. बंभीए णं लिवीए छायालीसं माउयक्खरा। —समवायाङ्ग सूत्र, ४६

६८. प्रज्ञापना १/३७

६९. समवायाङ्ग, समवाय १८

७०. Indian Palaeography P. 17

७१. प्राचीन काल में एशिया के उत्तर-पश्चिम में स्थित भू-भाग (सीरिया) फिनिशिया कहा जाता था।

७२. (क) भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ, पृ. १७०-१७१
(ख) विशेष जिज्ञासु, 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' भाग २ देखें।

७३. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। —तत्त्वार्थसूत्र १/२०

७४. अवदालियपुंडरीयणयणे .... चन्दद्धसमणिडाले वरमहिस-वराह-सीह-सद्दूल-उसभ-नागवरपडिपुण्णविउलक्खंधे ...... । —औपपातिक सूत्र १

७५. यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याय बबन्ध चक्षुः। —बुद्धचरित १०/८
७६. ज्वलच्छरीरं शुभजालहस्तम् संचुक्षुभे राजगृहस्य लक्ष्मीः। —बुद्धचरित १०/९
७७. प्रज्ञापना, २३
७८. फिलॉसफी बिगिन्स इन वंडर (Philosophy Begins in Wonder)
७९. दर्शन का प्रयोजन, पृष्ठ २९–डॉ. भगवानदास
८०. (क) अथातो धर्म जिज्ञासा – वैशेषिक दर्शन १
(ख) दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा – सांख्यकारिका १ (ईश्वरकृष्ण)
(ग) अथातो धर्मजिज्ञासा – मीमांसासूत्र १ (जैमिनी)
(घ) अथातो धर्मजिज्ञासा – ब्रह्मसूत्र १/१
८१. अधीहि भगवन् ! – छान्दोग्य उपनिषद्, अ. ७
८२. वरस्तु मे वरणीय एव – कठोपनिषद्
८३. भगवती शतक २, उद्देशक ५
८४. भगवती शतक ९, उद्देशक २९
८५. भगवती शतक ७, उद्देशक २
८६. भगवती शतक ८, उद्देशक १०
८७. तत्त्वार्थसूत्र ८/२-३
८८. कर्मग्रन्थ बन्धप्रकरण, १
८९. तत्त्वार्थसूत्र ६/१-२
९०. भगवती शतक ८, उद्देशक ७-८; शतक १८, उद्देशक ८
९१. डॉ. सागरमल जैन; जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृष्ठ ३९६
९२. इसिभासियं ९/१०
९३. भगवती, शतक १४, उद्देशक ९
९४. भगवती, शतक २५, उद्देशक ६
९५. भगवती, शतक २५, उद्देशक ७
९६. भगवती, शतक ७, उद्देशक १
९७. भगवती, शतक १, उद्देशक ९; शतक ५, उद्देशक ६; शतक ८, उद्देशक ६
९८. दशवैकालिक, अ. ३; अ. ५
९९. पिण्डनिर्युक्ति
१००. अभिधानराजेन्द्र कोश, खण्ड ५, पृष्ठ ८७६
१०१. पासयति पातयति वा पापम्। —उत्तराध्ययनचूर्णि पृ. १५२

१०२. पाशयति–गुण्डयत्यात्मानं पातयति चात्मन आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम्। –स्थानांगटीका, पृ. १६

१०३. बौद्धधर्म दर्शन, भाग १, पृष्ठ ४८०, ले. भरतसिंह उपाध्याय

१०४. अभिधम्मत्थसंगहो पृ. १९, २०

१०५. मनुस्मृति १२/५-७

१०६. देखिए धम्मपद अट्ठकथा ४-४४ (ख) अंगुत्तरनिकाय १-१४

१०७. योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति, उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ. १०४

१०८. प्रमादप्रातिकूल्येन मर्यादया ख्यानं-कथनं प्रत्याख्यानम्। –स्थानांग टीका पृ. ४१

१०९. आवश्यकनिर्युक्ति, १५९४

११०. व्यवहारसूत्र, उद्देशक १, बोल ३४ से ३९

१११. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। –भगवद्गीता, २/५९

११२. मैत्रायणी आरण्यक, १०/६२

११३. पढमंमि अ संघयणे वट्टंतो सेलकुट्ट समाणो।
तेसिं पि अ वुच्छेओ चउद्दसपुव्वीण वुच्छेए ॥ –उववाईसूत्र, तप अधिकार

११४. सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता ॥ –अष्टक प्रकरण ५/१

११५. उत्तराध्ययन ३०/२५

११६. स्थानांग ६

११७. औपपातिकसूत्र, पृष्ठ ३८, २

११८. (क) उत्तराध्ययन २४/११-१२ (ख) पिण्डनिर्युक्ति, ९२-९३

११९. पायं रसा दित्तिकरा नराणं .... –उत्तराध्ययन ३२/१०

१२०. (क) तत्र मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगतिहेतुत्वाद् वा विकृतयो, विगतयो।
–प्रवचनसारोद्धारवृत्ति (प्रत्या. द्वार)
(ख) मनसो विकृति हेतुत्वाद् विकृतयः। –योगशास्त्र, ३ प्रकाशवृत्ति

१२१. भगवतीसूत्र ७/१

१२२. प्रवचनसार ३/२७

१२३. भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक ८

१२४. परिसहिज्जंते इति परीसहा। –आवश्यकचूर्णि २, पृ. १३९

१२५. स्थानांग, ७। सूत्र ५५४

१२६. औपपातिक, समवसरण अधिकार

१२७. तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीया वृत्ति ९/१९

१२८. मूलाराधना, ३/२२२-२२५

१२९. भगवती आराधना, २२१-२२५

१३०. बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, गाथा ५९५३

१३१. दिणपडिम-वीरचरिया-तियाल जोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धंतरहसाणवि अज्झयणं देसविरदाणं ॥ —वसुनन्दि श्रावकाचार, ३१२

१३२. भगवतीसूत्र २५/७

१३३. पाव छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं त्ति भण्णते तेणं। —आवश्यकनिर्युक्ति १५०८

१३४. अपराधो वा प्रायः चित्तं–शुद्धिः। प्रायसः चित्तं–प्रायश्चित्तं–अपराधविशुद्धिः।
—राजवार्तिक ९/२२/१

१३५. भगवती २५।७

१३६. स्थानांग १०

१३७. भगवती शतक २५, उद्देशक ७

१३८. सूत्रकृतांग टीका १, पत्र २४२

१३९. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र १९

१४०. दशवैकालिक ९।२।१७

१४१. भगवती २५।७

१४२. विशेषावश्यकभाष्य ३१०

१४३. उत्तराध्ययन २९।३

१४४. असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ,
गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ। —स्थानांगसूत्र ८

१४५. स्थानांग टीका ५।३।४६५

१४६. उत्तराध्ययन २६।१०

१४७. चन्द्रप्रज्ञप्ति ९१

१४८. तैत्तिरीय आरण्यक २।१४

१४९. तैत्तिरीय उपनिषद् १।११।१

१५०. स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः। —योगदर्शन २।४४

१५१. भगवती २५।७

१५२. स्थानांग ५

१५३. औपपातिक, समवसरण, तप अधिकार।

१५४. ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः। —अभिधान राजेन्द्र कोष १।४८

१५५. चित्तस्सेगग्गया हवई झाणं। —आवश्यकनिर्युक्ति १४५६

१५६. शुभैकप्रत्ययो ध्यानम् । —द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १८/११
१५७. एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठिए। —भगवतीसूत्र ३/२
१५८. निरंजनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद् रूपवर्जितम्। —योगशास्त्र १०/१
१५९. धर्ममप्रमत्तसंयतस्य—तत्त्वार्थसूत्र ९/३७-३८
१६०. तत्त्वार्थसूत्र ९/३९-४०
१६१. भगवती २५/७
१६२. स्थानांग ४/१०
१६३. समवायांग ४
१६४. भगवती सूत्र २५/७
१६५. स्थानांगसूत्र ३/१
१६६. निःसंग—निर्भयत्व-जीविताशा-व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक ९/२६/१०
१६७. आवश्यकनिर्युक्ति, १५५२
१६८. उत्तराध्ययन, ३०/३६
१६९. भगवतीसूत्र, २५/७
१७०. मनुस्मृति ११, २४३
१७१. ऋग्वेद १०, १९०, १
१७२. मुण्डक १, १, ८
१७३. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत—वेद
१७४. शतपथब्राह्मण ३, ४, ४, २७
१७५. यद् दुस्तरं यद् दुरापं दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥—मनुस्मृति ११, २३७
१७६. महामंगलसुत्त, सुत्तनिपात १६/१०
१७७. कासिभारद्वाजसुत्त, सुत्तनिपात ४/२
१७८. दिट्ठवज्जसुत्त—अंगुत्तरनिकाय
१७९. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसाम्बी) पृ. ६८-७०
१८०. मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥
—उत्तराध्ययन, ९/४४

तुलनेय—
मासे मासे कुसग्गेन बालो भुंजेथ भोजनं ।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं ॥ —धम्मपद, ७०

१८१. उत्तराध्ययन, अध्ययन २
१८२. समवायांग, २२/१
१८३. अंगुत्तरनिकाय, ३/४९
१८४. सुत्तनिपात ५४/१०-१२
१८५. सुत्तनिपात ५४/६
१८६. सुत्तनिपात ५४/६; १५
१८७. मनुस्मृति ६/२३; ३४
देखिये—जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, खण्ड-२ पृ. ३६२-३६३
१८८. तीर्थंकर महावीर, भाग १, पृ. १९८
१८९. (क) डिक्शनरी ऑव पाली प्रोपर नेम्स, मलालसेकर, II पृ. १५९
(ख) महाभारत १२/१९०/३
१९०. निशीथचूर्णि १३, ४४२०
१९१. निरुक्त १/१४ वैदिक कोष
१९२. औपपातिकसूत्र, ३८ पृ. १७२ से १७६
१९३. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति ३, ४, २; ३, ४ पृ. ९४ से ९५
१९४. पिण्डनिर्युक्ति गाथा, ३१४
१९५. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, पृ. ११७०
१९६. निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि, भाग २
१९७. आवश्यकचूर्णि पृ. २७८
१९८. धम्मपद अट्ठकथा २, पृ. २०९
१९९. दीघनिकाय अट्ठकथा १, पृ. २७०
२००. ललितविस्तर पृ. २४८
२०१. मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्यसुत्त; ६३
२०२. आगम युग का जैनदर्शन, पं. दलसुख मालवणिया, पृ. ६०-६१
२०३. तं जीवं तं सरीरं ति भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। एते ते भिक्खु, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति ....''
— संयुत्त xii १३५
२०४. आगम युग का जैनदर्शन, पं. दलसुख मालवणिया, पृ. ६६-६७
२०५. संयुत्तनिकाय, २१/२/४/५

२०६. संयुत्तनिकाय, ३४/२/४/४
२०७. मनुस्मृति, ११/९०-९१
२०८. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३/२५३
२०९. गौतमस्मृति, २३/१
२१० वशिष्ठ धर्मसूत्र, २०/२२, १३/१४
२११. आपस्तम्ब सूत्र, १/९/२५/१-३, ६
२१२. महाभारत, अनुशासन पर्व, २५/६२-६४
२१३. महाभारत, वनपर्व, ८५/८३
२१४. मत्स्य पुराण, १८६/३४/३५
२१५. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन II, पृ. ४४०-४१
२१६. भगवती २५/४/७३४
२१७. उत्तराध्ययन, २८/७-८
२१८. जीवाभिगम,
२१९. प्रज्ञापना पद १, सूत्र ३
२२०. तत्त्वार्थसूत्र ५/३८-३९ देखें भाष्य व्याख्या सिद्धसेन कृत
२२१. द्वात्रिंशिका
२२२. विशेषावश्यकभाष्य ९२६ और २०६८
२२३. धर्मसंग्रहणी गाथा ३२, मलयगिरि ठीका
२२४. योगशास्त्र
२२५. द्रव्यगुणपर्याय रास, देखें प्रकरण रत्नाकर भा. १, गा.१०
२२६. लोकप्रकाश
२२७. नयचक्रसार और आगमसार ग्रन्थ देखें
२२८. प्रवचनसार अ. २, गाथा ४६-४७
२२९. तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ५/३८-३९
२३०. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ५/३८-३९
२३१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, ५/३८-३९
२३२. दर्शन और चिन्तन, पृ. ३३१, पं. सुखलाल जी
२३३. दर्शन और चिन्तन, पृ. ३३२ पं. सुखलाल जी
२३४. (क) भगवती २/१०/१२०; ११/११/४२४; १३/४/४८३ इत्यादि
(ख) प्रज्ञापना पद १
(ग) उत्तराध्ययन २८/१०

२३५. स्थानांगसूत्र ९५
२३६. वैशेषिकदर्शन २/२/६ से ९
२३७. पंचाध्यायी २/१/२३
२३८. युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका १/१/५/५
२३९. सांख्यप्रवचन २/१२
२४०. (क) दर्शन अने चिन्तन, भाग २, पृष्ठ १०२८, पं. सुखलाल संघवी
(ख) योगदर्शन पा. ३, सूत्र ५२ का भाष्य
२४१. अट्ठशालिनी १।३।१६
२४२. सुत्तनिपात २६/२८
२४३. सुत्तनिपात २६।२५-२७
२४४. बाइबल ओल्ड टेस्टामेंट, निर्गमन २०
२४५. अंगुत्तरनिकाय ३/३७
२४६. दर्शन और चिन्तन, भाग-२, पृ. १०५
२४७. "भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा" —सूत्रकृतांग १/१४/२२
२४८. दीघनिकाय ३३, संगितिपरियाय सुत्त में चार प्रश्नव्याकरण
२४९. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ. ५४, पं. दलसुख मालवणिया
२५०. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ५३७ से ५३८
२५१. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग पहला, पृष्ठ २११
२५२. (१) छव्वरिसो पव्वइयो—भगवती टीका ५-३
(२) अन्तकृद्दशांग, ६-१४
२५३. "कुमारसमणे" त्ति षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजित्वात्, आह च—"छव्वरिसो पव्वइओ निग्गंथं रोइऊण पावयणं" ति, एतदेव आश्चर्यमिह अन्यथा वर्षाष्टकादाराम्र प्रव्रज्या स्यादिति। —भगवती सटीक प्र. भाग, श. ५, उद्दे ४, सूत्र १८८, पत्र २१९-२
२५४. आचारांग द्वि. श्रुतस्कन्ध, पत्रा ३८८-१-२
२५५. समवायांग ८३, पत्र ८३-२
२५६. स्थानांगसूत्र ४११ स्था. ५, पत्रा ३०९
२५७. आवश्यकनिर्युक्ति पृष्ठ ८० से ८३
२५८. गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणी योगनिद्रया।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचक्रशुः॥१५॥
—श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, पृष्ठ १२२-१२३

२५९. विशेषावश्कभाष्य, गाथा २३२४ से २३३२
२६०. Indological Studies, Vol. II, Page 254
२६१. Dictionary of Pali Proper Names Vol. II, Page 400
२६२. धम्मपद अट्ठकथा, आचार्य बुद्धघोष १-१४३
२६३. मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, आचार्य बुद्धघोष १-४२२
२६४. मस्कर मैस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः। —पाणिनिव्याकरण ६-१-१५४
२६५. न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि। मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहतो मस्करी परिव्राजकः। —पातञ्जलमहाभाष्य ६-१-१५४
२६६. गोशालायां जातः गौशाल। ४-३-३५
२६७. सुमंगल विलासनी दीघनिकाय अट्ठकथा, पृष्ठ १४३-१४४
२६८. महासच्चक सुत्त १-४-६
२६९. अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग २, पृष्ठ ११६
२७०. The Ajivika J. D. L. Vol. II. 1920, pp. 17-18
२७१. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता, खण्ड १, पृष्ठ ४४
२७२. अंगुत्तरनिकाय १-१८-४-५
२७३. (क) निशीथसूत्र उ. १३-६६
(ख) दशवैकालिक सूत्र अ. ८, गा. ५
२७४. विनयपिटक चुल्लवग्ग ५-६-२
२७५. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४७४ से ४७८
२७६. आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग, पत्र २८३ से २८७
२७७. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पत्र २७७ से २७९
२७८. त्रिषष्टिशलाका चरित्र, पर्व १० सर्ग ४
२७९. महावीरचरियं, आचार्य नेमिचन्द्रसूरि
२८०. भावसंग्रह, गाथा १७६ से १७९
२८१. अंगुत्तरनिकाय १-१८-४; ५
२८२. यह कम्बल मानव के केशों से निर्मित होता था, ऐसा टीका साहित्य में उल्लेख है।
२८३. The Book of Gradual Saying, Vol. I, Page 286
२८४. मज्झिमनिकाय भाग १, पृष्ठ ५१४; Encyclopaedia of Religion and Ethics, Dr. Hocrule P. 261.

२८५. मज्झिमनिकाय सन्दक सुत्त २-३-६

२८६. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ १६३

२८७. द्रवति–गच्छति तांस्तान् पर्यायविशेषानितियद्रव्यम् (सू. चू. १, पृष्ठ ५)

२८८. द्रवति–स्वपर्यायान् प्राप्नोति क्षरति च, द्रूयते गम्यते तैस्तैः पर्हायैरिति द्रव्यम्।

२८९. तत्त्वार्थसूत्र ५/२९

२९०. तत्त्वार्थसूत्र ५/३७

२९१. द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णं कदाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते। रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृतः सुवर्ण-पिण्डः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते। –पातञ्जल योगदर्शन

वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्राप्तिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥१॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम्॥२॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं, तेन सामान्यनित्यता॥३॥

–कुमारिल्ल भट्टः–मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ६१९

२९२. आगमयुग का जैनदर्शन पृ. १२७-१२८, पं. दलसुख मालवणिया

२९३. स्थानांग ४/३३८

२९४. स्थानांग ४/३२१

२९५. स्थानांग ३/१८५

२९६. न्यायावतार २८

२९७. तत्त्वार्थ सूत्र

२९८. प्रमाणनयतत्त्वालोक २/११

२९९. प्रमाणमीमांसा १/९,१०

३००. (क) दशवैकालिकसूत्र, अगस्त्यसिंहचूर्णि, पृष्ठ ७४
(ख) दशवैकालिकसूत्र, जिनदासचूर्णि, पृष्ठ १३६

३०१. (क) दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृष्ठ २९७
(ख) अभिधानराजेन्द्र कोष, खण्ड ६, पृष्ठ ६७५

३०२. समयसार २१८, २१९

३०३. तत्त्वार्थराजवार्तिक ५।१।१।२४

३०४. (क) तत्त्वार्थवृत्ति ५।१

(ख) न्यायकोष पृष्ठ ५२०

३०५. छव्विहसंठाणं बहुविहि देहेहि पूरदित्ति गलदित्ति पोग्गला।

३०६. हरिवंशपुराण ७।३६

३०७. (क) भगवती २।१०

(ख) उत्तराध्ययन ३६।१०

३०८. तत्त्वार्थसूत्र ५।२६

३०९. देखिए–जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण में पुद्गल का लेख —देवेन्द्रमुनि

३१०. नत्वा श्री वर्धमानाय श्रीमते च सुधर्म्मणे।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो वाण्यै सर्वविदस्तथा॥
एतट्टीका चूर्णी जीवाभिगमादिवृत्तिलेशां च।
संयोज्य पञ्चमाङ्गं विवृणोमि विशेषतः किञ्चित्॥ —व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका २,३

२

भगवती सूत्र : एक परिशीलन

दार्शनिक चर्चाएं

लोकवाद

विश्व-स्थिति का मूल आधार

जैन दर्शन के अनुसार यह जगत अनादि अनन्त है। इसकी मात्रा न कभी घटती है और न कभी बढ़ती है, केवल रूपान्तर होता है।[1]

विश्व-स्थिति के आधारभूत तत्त्व क्या हैं? शिष्य की इस जिज्ञासा पर भगवान ने मुख्यतः नौ कारण बताये–

(१) **पुनर्जन्म**–जीव मरकर पुनः-पुनः जन्म लेते हैं।

(२) **कर्मबन्ध**–प्रवाहरूप से जीव अनादिकाल से कर्म बांधता रहता है।

(३) **मोहनीय-कर्मबन्ध**–प्रवाहरूप से जीव अनादिकाल से निरन्तर मोहनीय कर्म बांधता रहता है।

(४) **जीव अजीव का अत्यन्ताभाव**–तीनों कालों में ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

(५) **त्रस-स्थावर-अविच्छेद**–ऐसा भी तीनों कालों में कभी भी संभव नहीं है कि सभी त्रस जीव स्थावर बन जाएं और सभी स्थावर जीव त्रस बन जाएं, या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाएं।

(६) **लोकालोक पृथक्त्व**–ऐसा भी तीनों कालों में कभी संभव नहीं है कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

(७) **लोकालोक अन्योन्याप्रवेश**–ऐसा भी तीनों कालों में कभी संभव नहीं है कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।

(८) **लोक और जीवों का आधार-आधेय सम्बन्ध**–जितने क्षेत्र का नाम लोक है उतने क्षेत्र में जीव है और जितने क्षेत्र में जीव है उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

(९) **लोक मर्यादा**–जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं उतना क्षेत्र लोक की मर्यादा (सीमा) है।

धर्म और दर्शन

- श्रवण का फल
- शील और श्रुत का समन्वय
- तीर्थ
- सामायिक और भाण्डोपकरण
- व्यवहार

श्रवण का फल

गौतम गणधर भगवान महावीर से पूछते हैं :–

प्रश्न–हे भगवन् ! तथारूप श्रमण माहन की सेवा करने वाले को सेवा का क्या फल मिलता है?

भगवान बोले–हे गौतम ! उसे धर्मश्रवण करने का फल मिलता है।

प्रश्न–हे भगवन् ! धर्मश्रवण का क्या फल होता है?

उत्तर–गौतम ! धर्मश्रवण करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रश्न–हे भगवन् ! ज्ञान का फल क्या है?

उत्तर–हे गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान–हेय उपादेय का विवेक है।

विज्ञान का फल "प्रत्याख्यान"

प्रत्याख्यान का फल "संयम"

संयम का फल "अनास्रव–कर्मों का रुक जाना"

अनास्रव का फल "तप"

तप का फल "व्यवदान–पूर्वकृत कर्म का विनाश"

व्यवदान का फल "अक्रिया"

अक्रिया का फल "निर्वाण" है,

और सिद्धगति में जाना ही निर्वाण का सर्वान्तिम प्रयोजन है।

–भग. शतक २, उ. ५, सूत्र ३७-४६

- साधुमार्गी संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना द्वारा प्रकाशित भगवती सूत्र के अनुसार सूत्र संख्या आदि रखी गई है।

शील और श्रुत का समन्वय

गौतम–भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, प्ररूपणा करते हैं–शील ही श्रेष्ठ है, श्रुत ही श्रेष्ठ है, शील निरपेक्ष श्रुत ही श्रेष्ठ है अथवा श्रुत निरपेक्ष शील ही श्रेष्ठ है तो हे भगवन् ! यह किस प्रकार है?

भगवान–गौतम ! मेरा एवं सभी सर्वज्ञों का सिद्धान्त इस प्रकार है–कोई पुरुष शील सम्पन्न है परन्तु श्रुत सम्पन्न नहीं, कोई पुरुष श्रुत सम्पन्न है, शील सम्पन्न नहीं, कोई पुरुष शील सम्पन्न भी है और श्रुत सम्पन्न भी है, कोई शील सम्पन्न भी नहीं श्रुत सम्पन्न भी नहीं।

इनमें से प्रथम भंग का स्वामी "देश आराधक" है वह चारित्र की आराधना करता है, परन्तु विशेष रूप से ज्ञानवान् नहीं है। इस भंग का स्वामी सम्यग्दृष्टि है।

दूसरे भंग का स्वामी पापादि से अनिवृत्त होते हुए भी धर्म को जानता है, अतः वह "देशविराधक" है। इस भंग का स्वामी "अविरत सम्यग्दृष्टि" है।

तृतीय भंग का स्वामी "सर्वाराधक" है। वह पापों से उपरत भी है और धर्म को भी जानता है।

चतुर्थ भंग का स्वामी "सर्वविराधक" है क्योंकि सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय में से किसी की भी आराधना नहीं करता।

सारांश यह है कि कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं वह श्रेयस् की विराधना है, आराधना नहीं है। ज्ञान और शील दोनों की पूर्ण संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है।

–भग. शतक ८, उ. १०, सूत्र १३

तीर्थ

एक बार गौतम स्वामी ने जिज्ञासा पूर्वक भगवान् के सन्निकट जाकर पूछा–भन्ते ! तीर्थ को तीर्थ कहते हैं अथवा तीर्थङ्कर को तीर्थ?

महावीर–गौतम ! अर्हत् तो अवश्य ही तीर्थङ्कर है परन्तु चार प्रकार का संघ साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ है।

–भगवती शतक २०, उ. ८, सूत्र १३

सामायिक और भाण्डोपकरण

भगवान महावीर से एक बार गौतम ने पूछा–भगवन् ! सामायिक व्रत अंगीकार किये हुए श्रावक के भांडोपकरण कोई पुरुष ले जाय और सामायिक की पूर्णता के पश्चात् वह श्रावक भांडोपकरणों की गवेषणा करे तो उस समय वह अपने भांडोपकरण की गवेषणा करता है या दूसरे के भांडोपकरण की?

महावीर–गौतम ! वह स्वयं के भांडोपकरण की गवेषणा करता है, अन्य के भांडोपकरणों की नहीं।

गौतम–भन्ते ! शीलव्रत, गुणव्रत आदि प्रत्याख्यान एवं पोषधोपवास में श्रावक उन भांडों के स्वामित्व से मुक्त नहीं हो जाता?

महावीर–गौतम ! हो जाता है।

गौतम–फिर ऐसा कहने का क्या हेतु है, कि वह स्व–भाण्ड की गवेषणा करता है, पर-भाण्ड की नहीं?

महावीर–गौतम ! सामायिक करने वाले श्रावक के मन में हिरण्य सुवर्ण आदि के प्रति ममत्व नहीं होता। परन्तु सामायिक व्रत पूर्ण होने के पश्चात् वह ममत्व भाव से युक्त हो जाता है। अतः ऐसा कहा जाता है, कि वह स्वकीय भाण्ड की अन्वेषणा करता है, परकीय भाण्ड की नहीं।

–भगवती सूत्र शतक ८, उ. ५, सूत्र १-३

व्यवहार

मुमुक्षु आत्माओं की प्रवृत्ति-निवृत्ति एवं तत्कारणक ज्ञानविशेष को व्यवहार कहते हैं। शिष्य प्रश्न करता है–भन्ते ! व्यवहार कितने हैं?

गुरुदेव ने उत्तर दिया–आर्य ! व्यवहार पांच हैं-

आगम व्यवहार, श्रुत व्यवहार, आज्ञा व्यवहार, धारणा व्यवहार और जीत व्यवहार।

(क) आगम व्यवहार–तीर्थङ्कर, गणधर, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी केवलज्ञानी और दशपूर्व से लेकर चौदह पूर्वधारी के आगम ज्ञान से प्रवर्तित प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार आगम व्यवहार है।

(ख) श्रुत व्यवहार–आचारांगादि सूत्रों से प्रवर्ताया जाने वाला व्यवहार श्रुत व्यवहार है।

(ग) **आज्ञा व्यवहार**–गीतार्थ, बहुश्रुत आचार्यादि देशान्तर में रहे हुए हों, वे पत्रादि द्वारा प्रायश्चित्तादि आज्ञा लिख भेजें या कहलवा दें उसके अनुसार प्रवृत्ति करना आज्ञा व्यवहार है।

(घ) **धारणा व्यवहार**–किसी गीतार्थ संविग्न मुनि ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जिस अपराध में जो प्रायश्चित्त दिया है, उसकी धारणा से वैसे अपराध में उसी प्रायश्चित्त के अनुसार प्रवृत्ति करना धारणा व्यवहार है।

(ङ) **जीत व्यवहार**–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष, प्रतिसेवना का और संहनन, धृति आदि की उत्तरोत्तर वर्तमानकालिक हानि देखकर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह जीत-व्यवहार है।

इन पांच व्यवहारों में व्यवहर्त्ता के पास यदि आगम हो तो उसे आगम से ही व्यवहार चलाना चाहिए। आगम में भी केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान आदि छह भेद हैं। इनमें पूर्व के होते हुए पश्चातवर्त्ती आगम ज्ञान से व्यवहार नहीं चलाना चाहिये। आगम के अभाव में धारणा से और धारणा के अभाव में जीत व्यवहार से प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहारों का प्रयोग करता हुआ साधु भगवान की आज्ञा का आराधक होता है।

–भग. शतक ८, उ. ८, सूत्र ७; व्यवहार सूत्र उ. १०

●

तत्त्व मीमांसा

- लोकवाद
- आत्मवाद
- पञ्चास्तिकाय
- देव
- परिव्राजक
- आर्द्रक और पार्श्वापत्य

लोक सम्बन्धी चर्चाएं

- दर्शन का आदि बिन्दु : जिज्ञासा
- लोक क्या है?
- लोक अलोक का पौर्वापर्य
- लोक स्थिति
- लोक संस्थान
- लोक कितने प्रकार का है?
- कर्म कौन बांधता है?
- लोक का विस्तार
- लोक में जीव सर्वत्र जन्मा है
- बाधा नहीं पहुँचाते

दर्शन का आदि बिन्दु : जिज्ञासा

आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर सहज ही ज्ञात होता है कि गणधर गौतम ने अमुक वस्तु देखी, अमुक बात सुनी तो उनके अन्तर्मानस में संशय पैदा हुआ, जिज्ञासा उत्पन्न हुई ''जाय संसए, जाय कोउहले''। और वे उस जिज्ञासा का समाधान करने शीघ्र ही भगवान के चरणों में

पहुँचे। प्रश्न किया–"**कहमेयं भन्ते?** भगवन् ! यह बात कैसे है? इसमें सत्य क्या है? गौतम गणधर के प्रश्नों का विशाल क्रम ही जैन साहित्य और दर्शन की सुदीर्घ परम्परा है। यदि महान् आगम वाङ्मय में से गौतम आदि साधकों के प्रश्नोत्तर व संवाद निकाल दिये जाएं तो फिर आगम साहित्य में नगण्य ही शेष रह जाएगा। योरोप के अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान शैक्सपियर के साहित्य का है, संस्कृत साहित्य में जो स्थान कालिदास के साहित्य का है, जैन-आगम में वही स्थान गौतम आदि के संवादों का है। गौतम के प्रश्न और संवाद जैन आगमों की आत्मा हैं। भारतीय विचारकों ने तो यहां तक कह दिया "**न हि संशय मनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति**" संशय किये बिना मनुष्य कल्याण के दर्शन ही नहीं कर सकता। पुराने आचार्य ग्रन्थों का निर्माण करते समय सबसे प्रथम उसकी पृष्ठभूमि जिज्ञासा पर खड़ी करते हैं–"**अथातो धर्मजिज्ञासा**"-अब धर्म की जिज्ञासा–जानने की इच्छा प्रारम्भ की जाती है। इस प्रकार जिज्ञासा से दर्शन और धर्म के साहित्य का निर्माण हुआ है। जिज्ञासा ने ही मूर्ख को विद्वान बनाया है। अज्ञानी को ज्ञान दिया है। हर एक आत्मा में जिज्ञासा पैदा होती है, वह उसका समाधान कर विकास के पथ पर बढ़ता जाता है। सुख की इच्छा और स्वतंत्रता की भावना की तरह जिज्ञासा भी आत्मा की सहज भावना है, स्वभाव है, उससे किसी को रोका नहीं जा सकता।

लोक क्या है?

विश्व के सभी दर्शन किसी न किसी रूप में लोक का स्वरूप समझने का प्रयत्न करते हैं। दार्शनिक खोज के पीछे प्रायः एक ही हेतु होता है और वह हेतु है सम्पूर्ण लोक। जिसे हम लोकोत्तर कहते हैं वह भी वास्तव में लोक ही है। लोक को समझने के दृष्टिकोण जितने विभिन्न होते हैं उतनी ही विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएं भूतल पर जन्म लेती रहती हैं।

लोक शब्द "लुक्" धातु के निष्पन्न हुआ है–"**लोक्यते-अवलोक्यते इति लोकः**" अर्थात् आकाश के जिस भाग में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य दिखाई देते हैं वह लोक कहलाता है। लोक से बाहर आकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

गौतम प्रश्न करते हैं–भन्ते ! लोक क्या है?

भगवान कहते हैं–गौतम ! यह लोक पंचास्तिकाय रूप है। अर्थात् जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय हैं वह लोक है।

सातवीं पृथ्वी के नीचे लोक के अंतिम भाग से लेकर सिद्धशिला के ऊपर एक योजन तक लोक का परिमाण चौदह राजू है।

–भग. शतक १३, उ. ४, सूत्र १३

लोक-अलोक का पौर्वापर्य

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के "रोह" नाम के एक शिष्य थे। एक बार तत्त्व चिन्तन करते हुए उनके अन्तर्मानस में कुछ शंकाएं उठीं। उन्होंने भगवान से जिज्ञासाएं प्रस्तुत करते हुए कहा–

भगवन् ! क्या पहले लोक है, बाद में अलोक? या पहले अलोक है बाद में लोक?

महावीर–लोक अलोक दोनों ही शाश्वत भाव हैं अतः इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं है।

रोह–भन्ते ! क्या पहले जीव है, बाद में अजीव? या पहले अजीव है बाद में जीव?

महावीर–आर्य ! जीव भी शाश्वत है, अजीव भी शाश्वत है, इसलिये इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं हो सकता (पहले-पीछे होना वस्तु की आदि और अशाश्वतता सिद्ध करता है)।

इसी प्रकार भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक, सिद्ध-असिद्ध, सिद्धि-असिद्धि आदि भी शाश्वत भाव हैं। इनमें पहले पीछे का क्रम नहीं है।

रोह–भन्ते ! पहले अंडा हुआ और पीछे मुर्गी हुई या पहले मुर्गी, पीछे अण्डा हुआ?

महावीर–अण्डा कहां से आया?

रोह– मुर्गी से।

महावीर–मुर्गी कहां से आई?

रोह–अण्डे से।

महावीर–तो फिर दोनों में पहले कौन और पीछे कौन, यह कैसे कहा जा सकता है? दोनों पहले भी हैं और पीछे भी। जैसे मुर्गी के बिना अंडा

नहीं और अंडे के बिना मुर्गी नहीं और दोनों में पहले कौन हुआ यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों ही शाश्वतभाव हैं।

इसी प्रकार लोकान्त-अलोकान्त, लोक-सप्तम अवकाशान्तर, लोकान्त सप्तम तनुवात, लोकान्त, सप्तम पृथ्वी; इसी तरह अलोकान्त के साथ उक्त सभी प्रश्न पूछने पर भगवान् ने बताया कि इनमें पूर्वापर क्रम नहीं होता। भगवान के उत्तरों को सुनकर रोह अनगार अत्यधिक संतुष्ट हुए।

भग. शतक १, उ. ६, सूत्र २१६-२२०

लोक-स्थिति

गौतम–भगवन् ! लोक की स्थिति कितने प्रकार की है?

भगवान बोले–गौतम ! लोकस्थिति आठ प्रकार ही है–इस पृथ्वी के नीचे सबसे पहले आकाश है। आकाश स्व-प्रतिष्ठ है–वह अपने आप पर ही ठहरा है। आकाश पर वायु है। वायु के दो प्रकार हैं–घनवात और तनुवात। आकाश के पश्चात् तनुवात है और तनुवातर के पश्चात् घनवात है। घनवात पर घनोदधि–जमा हुआ पानी है। उस पानी पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है। पृथ्वी के सहारे त्रस और स्थावर जीव रहे हुए हैं। जीवों के आधार पर अजीव है, कर्म के आधार पर जीव है। अजीवों ने जीवों को संग्रह कर रक्खा है और जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रखा है।

गौतम–भगवन् ! इस तरह कहने का क्या अभिप्राय है कि लोक की स्थिति आठ प्रकार की है और यावत् जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रक्खा है?

भगवान–गौतम ! जैसे कोई पुरुष चमड़े की मशक को वायु से फुलावे। फिर उस मशक का मुंह बांध दे। फिर बीच में एक रस्सी बांधकर मशक की हवा को दो विभागों में बांट दे। तदनन्तर मशक का मुंह खोलकर उसमें पानी भर दे और फिर मशक का मुँह बन्द कर दे और बीच की रस्सी भी खोल दे। ऐसा करने पर एक ही मशक के आधे भाग में हवा होगी और आधे भाग में पानी होगा। हवा सूक्ष्म है और पानी उससे स्थूल है फिर भी हवा के आधार पर पानी रहता ही है। अथवा एक और उदाहरण से वह बात स्पष्ट हो जाती है, जैसे कि–कोई पुरुष चमड़े की मशक को हवा से फुलाकर अपनी कमर पर बांध ले। फिर वह पुरुष अथाह दुस्तर पानी में प्रवेश कर जाय फिर भी वह पुरुष मशक पर रहेगा, समुद्र में डूबेगा नहीं।

वायु सूक्ष्म है, फिर भी मनुष्य का भार वहन करती है। जैसे इसमें संदेह को अवकाश नहीं, उसी प्रकार आठ प्रकार की लोक स्थिति में भी संदेह करने का कोई कारण नहीं।[३]

–भग. शतक १, उ. ६, सूत्र २२४-२२५

लोक का संस्थान

गौतम–भगवन् ! लोक का संस्थान (आकार) किस प्रकार का कहा गया है?

भगवान–गौतम ! लोक की आकृति सुप्रतिष्ठक[४] शराव (सकोरे) के समान है। वह नीचे विस्तीर्ण यावत् ऊपर ऊर्ध्व मृदंग के आकार संस्थित है। इस नीचे विस्तीर्ण यावत् ऊपर ऊर्ध्व मृदंग के आकार वाले लोक में, उत्पन्न केवलज्ञान, दर्शन को धारण करने वाले अरिहन्त, जिन, केवली जीवों को भी जानते-देखते हैं तथा अजीवों को भी जानते और देखते हैं।

लोक का विस्तार मूल में सात रज्जु[५] परिमाण है।

ऊपर क्रम से घटते हुए सात रज्जु की ऊँचाई पर एक रज्जु विस्तार है। फिर क्रम से बढ़ते हुए साढ़े नौ से साढ़े दस रज्जु की ऊंचाई पर विस्तार पांच रज्जु है। फिर क्रम से घटते हुए मूल से चौदह राजु की ऊंचाई पर एक रज्जु का विस्तार है। मूल से लेकर ऊपर तक की ऊंचाई चौदह रज्जु है।

लोक के तीन भेद हैं। उनमें से अधोलोक का आकार उलटे सकोरे जैसा है। तिर्यक् लोक का आकार झालर या पूर्ण चन्द्रमा जैसा है। ऊर्ध्वलोक का आकार ऊर्ध्व मृदंग जैसा है।

इस लोक में उत्पन्न ज्ञान-दर्शन धारक अरिहन्त, जिन, केवली भगवन्त सिद्ध होते हैं यावत् सभी दुःखों का अंत करते हैं।

–भग. शतक ७, उ. १, सूत्र ४

लोक कितने प्रकार का है?

गौतम–भगवन् ! लोक कितने प्रकार का कहा गया है?

भगवान–गौतम ! लोक चार प्रकार का कहा गया है–

द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक।

गौतम–भगवन् ! क्षेत्रलोक कितने प्रकार का कहा गया है?

भगवान–गौतम ! तीन प्रकार का कहा गया है–अधोलोक, तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक।

गौतम–भगवन् ! अधोलोक का कैसा संस्थान है?

भगवान–गौतम ! त्रया (तिपाई) के आकार का है।

गौतम–भगवन् ! तिर्यग्लोक का संस्थान कैसा है?

भगवान–गौतम ! झालर के आकार का है।

गौतम–भगवन् ! ऊर्ध्वलोक का कैसा संस्थान है?

भगवान–गौतम ! ऊर्ध्व मृदंग के आकार का है।

गौतम–भगवन् ! अलोक का कैसा संस्थान है?

भगवान–गौतम ! अलोक का संस्थान पोले गोले के समान कहा है।

–भग. शतक ११, उ. १०, सूत्र १-१०

कर्म कौन बांधता है?

जिन जीवों के पूर्ण कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें कर्म का बन्धन नहीं होता। पूर्व कर्म से बंधा हुआ जीव ही नूतन कर्मों का बंध करता है।[६]

मोह कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का बन्ध करता है।[७]

मोह रहित प्रवृत्ति करते हुए तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव शरीर नाम कर्म के उदय से शुभकर्म का बंध करता है।

नवीन कर्म बंध का कारण पूर्व-बंधन न हो तो मुक्त आत्मा भी कर्म से बंधे बिना नहीं रह सकता अतः जो कर्म से बंधा हुआ है वही बंधता है।

गौतम ने पूछा–भगवन् ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है?

महावीर ने कहा–गौतम ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उदीरणा, वेदना और निर्जरा दुःखी जीव करता है, अदुःखी जीव नहीं करता।

–भगवती ७/१/१६

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! कर्म कौन बांधता है?

भगवान ने समाधान दिया–गौतम ! असंयत, संयतासंयत, और संयत–ये सभी कर्म का बंध करते हैं।

प्रथम गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक के अधिकारी जीव पुण्य और पाप दोनों का बंध करते हैं और ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक के जीव केवल पुण्य का बंध करते हैं पाप का नहीं। –भगवती ६/३

लोक का विस्तार

गौतम–भगवन् ! लोक कितना बड़ा कहा है?

भगवान–गौतम ! जम्बूद्वीप नामक यह द्वीप समस्त द्वीप समुद्रों के मध्य में है। इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस (३,१६,२२७) योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। कोई महर्द्धिक, महासुख सम्पन्न छह देव मेरुपर्वत की चूलिका के चारों तरफ खड़े रहें और नीचे चार दिशाकुमारिकाएं हाथों में बलिपिण्ड लिए चार दिशाओं में जम्बूद्वीप की जगती पर खड़ी हुई हैं जिनकी पीठ मेरु की ओर है एवं मुख दिशाओं की ओर।

–"उक्त चारों दिशाकुमारिकाएं इधर अपने बलिपिंडों को अपनी-अपनी दिशाओं में एक साथ फेंकती हैं और उधर उन मेरु शिखरस्थ छह देवताओं में से एक देवता तत्काल दौड़ लगाकर चारों ही बलिपिंडों को भूमि पर गिरने से पहले ही पकड़ लेता है। इस प्रकार की शीघ्र गति वाले छहों देवता हैं एक नहीं।"

–"उपर्युक्त शीघ्र गति वाले देव एक दिन लोक का अन्त मालूम करने के लिये क्रमशः छहों दिशाओं में चल पड़े। अपनी पूरी गति से एक पल का भी विश्राम लिए बिना दिन-रात चलते रहे, उड़ते रहे।"

–"जिस क्षण देवता मेरु शिखर से उड़े, कल्पना करो उसी क्षण किसी गृहस्थ के यहां एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् माता-पिता परलोकवासी हुए। पुत्र बड़ा हुआ और उसका विवाह हो गया। वृद्धावस्था में उसके भी पुत्र हुआ। और बूढ़ा हजार वर्ष की आयु पूरी कर चला बसा।"

गौतम स्वामी ने बीच में ही तर्क किया–"भन्ते ! वे देवता, जो शीघ्र गति से लोक का अन्त लेने के लिये निरन्तर दौड़ लगा रहे थे, हजार वर्ष में क्या लोक के छोर तक पहुंच गए?

भगवान ने कहा–गौतम ! अभी कहां पहुँचे हैं?

इसके बाद तो उसका पुत्र, फिर उसका भी पुत्र, इस प्रकार एक के बाद एक हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ी गुजर जायें, इतना ही नहीं उनके नाम गोत्र भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायँ। तब तक वे देवता चलते रहें तो भी लोक का अन्त नहीं प्राप्त कर सकते।

गौतम–भगवन् ! अलोक कितना बड़ा है?

भगवान–गौतम ! इस मनुष्य क्षेत्र की लम्बाई और चौड़ाई पैंतालीस लाख (४५,००,०००) योजन है।

उस समय दस महर्द्धिक देव इस मनुष्य लोक को चारों ओर घेर कर खड़े हों, उनके नीचे आठ दिशाकुमारियां आठ बलिपिण्डों को ग्रहण कर मानुषोत्तर पर्वत के बाहर की दिशाओं में फेंकें तो उनमें से एक देव उन बलिपिण्डों को भूतल पर गिरने से पहले ही ग्रहण कर ले। ऐसे शीघ्रगामी वे दसों देव लोक के अंत से यावत् (यह कल्पना है जो संभव नहीं है) पूर्वादि चारों दिशाओं में जावें। उसी समय एक गाथापति के घर एक लाख वर्ष की आयुष्य वाला एक बालक उत्पन्न हुआ। क्रमशः उस बालक के माता-पिता दिवंगत हुए, उसका भी आयुष्य क्षीण हो गया, उसकी अस्थि और मज्जा नष्ट हो गई और उसकी सात पीढ़ियों के पश्चात् वह कुलवंश भी नष्ट हो गया, नाम-गोत्र तक नष्ट हो गये। इतने समय तक चलते रहने पर भी वे देव अलोक के अन्त को प्राप्त नहीं कर सकते।

गौतम–भगवन् ! उन देवों का गत-क्षेत्र अधिक है, या अगत-क्षेत्र?

भगवान–गौतम ! गत-क्षेत्र थोड़ा है और अगत क्षेत्र अधिक है। गत क्षेत्र से अगत-क्षेत्र अनन्त गुणा अधिक है। अगत क्षेत्र से गत-क्षेत्र अनन्तवें भाग है। गौतम ! इतना विराट् है, अलोक !

–भग. शतक ११, उ. १०, सूत्र २०

लोक में जीव सर्वत्र जन्मा है

गौतम–भन्ते ! लोक कितना विस्तीर्ण है?

भगवान–गौतम ! लोक बहुत विस्तार वाला है। वह पूर्व दिशा में असंख्य कोटा-कोटि योजन है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में भी असंख्य कोटा-कोटि योजन है। और इसी प्रकार ऊर्ध्व-अधोदिशा में भी असंख्य कोटा-कोटि योजन आयाम विष्कम्भ (लम्बाई-चौड़ाई) वाला है।

गौतम–भन्ते ! इस विराट् लोक में परमाणु पुद्गल जितना भी आकाश प्रदेश ऐसा है जहां इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो?

भगवान–गौतम ! ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिये जैसे कोई पुरुष सौ बकरियों के लिये एक विशाल अजाव्रज बनाये जिसमें अधिक से अधिक एक हजार बकरियों को रक्खे और उसमें उनके लिये घास-पानी डाल दे। वे बकरियां वहां अधिक से अधिक छह महीने तक रहें, तो क्या उस बाड़े का कोई परमाणु पुद्गल मात्र आकाश प्रदेश ऐसा रह सकता है, जो मल, मूत्र, श्लेष्म, वमन, शुक्र, रुधिर, रोम, सींग, खुर और नख से स्पर्शित न हुआ हो?

गौतम–भन्ते ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

भगवान कहते हैं–उस बाड़े का कदाचित् कोई परमाणु उपर्युक्त स्पर्शों से अस्पृष्ट रह गया हो, परन्तु इस विशाल, विराट् लोक में लोक की शाश्वतता के कारण, संसार की अनादिता के कारण, जीव की नित्यता के कारण, कर्म की बहुलता के कारण और जन्म-मरण की प्रचुरता के कारण एक भी परमाणु पुद्गल मात्र आकाश प्रदेश ऐसा नहीं है जहां इस जीव ने जन्म-मरण न किया है।

इस कारण गौतम ! उपर्युक्त बात कही गई है।

–भग. शतक १२, उ. ७, सूत्र ४५६

बाधा नहीं पहुंचाते

गौतम–भगवन् ! लोक के एक आकाश प्रदेश पर एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय जीवों के व अनिन्द्रिय जीवों के जो प्रदेश हैं वे परस्पर एक दूसरे को बाधा नहीं उत्पन्न करते? वे परस्पर के अवयवों का छेद नहीं करते?

भगवान–गौतम ! वे परस्पर पीड़ादि नहीं पहुँचाते। जिस प्रकार कोई शृंगारित यावत् मधुर कण्ठ वाली नर्तकी सैंकड़ों और लाखों व्यक्तियों से परिपूर्ण रंग-स्थली में बत्तीस प्रकार के नाट्यों में से कोई एक नाट्य दिखाती है। उस समय दर्शक लोगों की अनिमेष दृष्टियां उस नर्तकी पर चारों ओर से गिरती हैं, तब क्या वे दृष्टियां नर्तकी को किसी प्रकार की पीड़ा पहुंचाती हैं?

गौतम–भन्ते ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

भगवान–गौतम ! इसी तरह जीवों के आत्म-प्रदेश परस्पर बद्ध, स्पृष्ट और संबद्ध होने पर भी आबाधा व्याबाधा उत्पन्न नहीं करते और न अवयव का छेद करते हैं। –भग. शतक ११, उ. १०, सूत्र २१

आत्मा-विषयक चर्चाएँ

- आत्मा का अस्तित्व
- जीव चैतन्य है ?
- जीव बढ़ते हैं या घटते हैं ?
- आत्मा के आठ प्रकार
- हाथी और कुन्थुआ में जीव समान
- जीव के सम्बन्ध में विविध जिज्ञासाएँ
- जीवों की गति
- आत्मारंभी और अनारंभी
- ज्ञान और चारित्र इहभविक या परभविक ?
- महावेदना और महानिर्जरा
- जीव सादि सान्त है ?
- जीव और अजीव के परिणाम

आत्मा का अस्तित्व

शिष्य ने पूछा-भंते ! सांसारिक प्राणियों के विषय में और आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंकाशील होने से क्या हानि है ?

भगवान् ने कहा-आत्मार्थी शिष्य ! जो जिज्ञासु संसार के विषय में शंकाशील हो जाता है, वह आत्मा के अस्तित्व के विषय में भी शंकाशील रहता है, और जो आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंकाशील रहता है, वह संसार के चराचर जीवों के प्रति भी शंकाशील बन जाता है।

-आ. सूत्र, प्र. श्रुतस्कन्ध, प्र. अ., उ. ४, सूत्र २९

जीव चैतन्य है ?

गौतम-भगवन् ! क्या जीव चैतन्य है, या चैतन्य जीव है ?

भगवान-गौतम ! जीव, नियमतः चैतन्य है और चैतन्य भी नियमतः जीव है।

-भग. शतक ६, उ. १०, सूत्र ३

जीव बढ़ते हैं या घटते हैं?

गौतम–हे भगवन् ! क्या जीव बढ़ते हैं ? घटते हैं ? या अवस्थित रहते हैं ?

भगवान–हे गौतम ! जीव बढ़ते नहीं हैं, घटते भी नहीं हैं किन्तु अवस्थित रहते हैं। नैरयिकादि चौबीस ही दण्डकों में जीव बढ़ते भी हैं, घटते भी हैं और अवस्थित भी रहते हैं। परन्तु सिद्ध भगवान बढ़ते हैं और अवस्थित रहते हैं, घटते नहीं।

–भग. शतक ५, उ. ८, सूत्र ४-६

आत्मा के आठ प्रकार

गौतम–भगवन् ! आत्मा कितने प्रकार की होती है?

भगवान–गौतम ! आत्मा के आठ प्रकार हैं–द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योग-आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा, चारित्र आत्मा, वीर्यात्मा।

उपयोग की अपेक्षा सामान्यतः सभी आत्माएँ एक ही प्रकार की हैं। फिर भी विशिष्ट गुण और उपाधि की प्रधानता को लेकर आत्मा के आठ भेद बताये हैं।

द्रव्यात्मा–त्रिकालवर्ती द्रव्यरूप आत्मा द्रव्य आत्मा है। यह सभी जीवों के नियमतः होती है।

कषायात्मा–क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय से संयुक्त आत्मा कषाय-आत्मा है। उपशान्तकषायी व क्षीणकषायी आत्माओं के अतिरिक्त शेष सर्व संसारी जीवों में यह आत्मा होती है।

योग-आत्मा–मन-वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। इन योगों से युक्त आत्मा योग-आत्मा है। अयोगी केवली और सिद्धों के अतिरिक्त सभी सयोगी जीवों के यह आत्मा होती है।

उपयोग-आत्मा–ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग प्रधान आत्मा उपयोगात्मा है। उपयोग-आत्मा, सिद्ध व संसारी सर्वजीवों के होती है।

ज्ञान-आत्मा–विशेष अनुभव रूप सम्यक्ज्ञान से विशिष्ट आत्मा ज्ञान-आत्मा है। ज्ञान-आत्मा सम्यग्दृष्टि जीवों के होती है।

दर्शन-आत्मा—सामान्य अवबोध रूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा दर्शन आत्मा है।

चारित्र-आत्मा—सम्यक् प्रवृत्ति और निवृत्तिवान् आत्मा चारित्र आत्मा है। चारित्रात्मा विरत जीवों के होती है।

वीर्य-आत्मा—उत्थानादि रूप कारणों से युक्त वीर्य विशिष्ट आत्मा वीर्यात्मा है। सिद्ध जीवों को छोड़कर सर्व संसारी जीवों के सकरण वीर्य-आत्मा होती है।

—भग. शतक १२, उ. १०, सूत्र १

हाथी और कुन्थुआ का जीव समान

गौतम—भगवन् ! क्या हाथी और कुन्थुआ दोनों का जीव समान है ?

भगवान्— हाँ गौतम ! हाथी और कुन्थुआ का जीव समान है। जैसे—एक दीपक का प्रकाश किसी एक कमरे में फैला हुआ है, यदि उसको किसी बर्तन द्वारा ढंक दिया जाय, तो उसका प्रकाश उस बर्तन-परिमाण हो जाता है। इसी प्रकार जब जीव, हाथी का शरीर धारण करता है, तो उतने बड़े शरीर में व्याप्त रहता है और जब कुन्थुआ का शरीर धारण करता है, तो उस छोटे शरीर में व्याप्त रहता है। इस प्रकार केवल शरीर में ही छोटे बड़े का अन्तर रहता है, किन्तु जीव में कुछ भी अन्तर नहीं है। सभी जीव समान हैं।

—भग. शतक ७, उ. ८, सूत्र २

जीव के सम्बन्ध में विविध जिज्ञासाएँ

उस काल, उस समय में कौशाम्बी नगरी में जयन्ती नाम की श्रमणोपासिका रहती थी। वह सहस्रानीक राजा की पुत्री, शतानीक राजा की बहन, उदयन राजा की बूआ, मृगावती की ननंद और श्रमण भगवान महावीर स्वामी के साधुओं की प्रथम शय्यातर थी। जीवाजीवादि तत्त्वों की अच्छी जानकार थी।

भगवान महावीर का धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् श्रमणोपासिका जयन्ती ने भगवान से प्रश्न पूछे जो बड़े ही तात्त्विक और हृदयस्पर्शी थे। उसका प्रथम प्रश्न था—"हे भन्ते ! जीव किस कारण से गुरुत्व-भारीपन को प्राप्त होते हैं?"

भगवान–हे जयन्ती ! प्राणातिपात आदि अठारह पापों का सेवन करके जीव गुरुत्व को प्राप्त होते हैं।

जयन्ती–हे भन्ते ! जीव किस तरह लघुत्व को प्राप्त होते हैं ?

भगवान–हे जयन्ती ! प्राणातिपातादि अठारह पापों के अनासेवन से जीव लघुत्व को प्राप्त होते हैं।

जयन्ती–हे भगवन् ! जीवों का भवसिद्धिकपना स्वाभाविक है या परिणाम से ?

भगवान–जयंती ! जीवों का भवसिद्धिकपना–मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता स्वाभाविक है, परिणाम से नहीं।

जयन्ती–भगवन् ! क्या सभी भवसिद्धिक आत्माएँ मोक्ष-गामिनी हैं?

महावीर–हाँ, जो भवसिद्धिक हैं वे सर्व आत्माएँ मोक्षगामिनी हैं।

जयंती–भगवन् ! यदि सभी भवसिद्धिक आत्माएँ मुक्त हो जाएँगी तो क्या संसार उनसे रहित हो जाएगा ?

महावीर– ऐसा नहीं है। जैसे सादि तथा अनन्त व दोनों ओर से परिमित तथा दूसरी श्रेणियों से परिवृत सर्वाकाश की श्रेणी में से एक-एक परमाणु-पुद्गल प्रति समय निकालने पर अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी व्यतीत हो जायँ तथापि वह श्रेणी रिक्त नहीं होती। इसी प्रकार भवसिद्धिक जीवों के मुक्त होने पर भी यह संसार उनसे रिक्त नहीं होगा।

अथवा

जैसे भविष्यकाल के अनन्त समय भूतकाल बन चुके फिर भी भविष्यकाल के समयों का कोई अन्त नहीं–जैसे भविष्यकाल समाप्त नहीं होता इसी तरह अनन्त भवसिद्धिक मोक्ष में चले गये। अनन्त भव्य चले जाएँगे फिर भी यह लोक कभी भी भवसिद्धिक जीवों से रिक्त नहीं होगा।

जयन्ती–भन्ते ! जीव सोता हुआ श्रेष्ठ है या जाग्रत ?

भगवान–जयन्ती ! कितने ही जीवों की सुप्तावस्था श्रेष्ठ है और कितने ही जीवों की जाग्रत अवस्था उत्तम है।

जयन्ती–भगवन् ! यह कैसे ?

भगवान–जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्म का अनुसरण करने वाले हैं, अधर्मप्रिय हैं, अधर्मोपदेष्टा हैं, अधर्मावलोकी हैं, अधर्म में आसक्त

हैं। उन जीवों की सुप्तावस्था श्रेष्ठ है। ऐसे जीव सुप्तावस्था पर्यन्त अनेक प्राण-भूत-जीव-सत्त्व समुदाय के दुःख, शोक, परिताप आदि के कारण नहीं बनते अतः ऐसे जीवों का सोते रहना अच्छा है।

और जो जीव धार्मिक हैं, धर्मावलोकी हैं, धर्म में आसक्त हैं, धर्मानुचारी हैं ऐसे जीव जब तक जाग्रत रहते हैं तब तक अनेक प्राण-भूत-जीव और सत्त्वों के अदुःख, अपरिताप के लिये कार्य करते हैं। अतः उनकी जाग्रतावस्था श्रेष्ठ है।

इस दृष्टि से कितने ही जीवों का सोते रहना अच्छा है और कितने ही जीवों का जाग्रत रहना अच्छा है।

जयन्ती–भगवन् ! जीवों का निर्बल होना श्रेष्ठ है या सबल होना श्रेष्ठ है?

भगवान–जयन्ती ! कितने ही जीवों की सबलता श्रेष्ठ है और कितने ही जीवों की निर्बलता श्रेष्ठ है।

जयन्ती–भंते ! यह कैसे ?

भगवान–जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक यावत् अधर्मानुचारी हैं उनकी निर्बलता श्रेष्ठ है। क्योंकि उनकी निर्बलता अन्य जीवों के लिये दुःख का हेतु नहीं बनती। दूसरी तरफ जो जीव धार्मिक हैं उनकी सबलता सब जीवों के लिये सुख का कारण है।

जयन्ती–भंते ! जीवों की दक्षता श्रेष्ठ है या आलसीपन ?

भगवान–जयन्ती ! कितने ही जीवों का उद्यमीपना श्रेष्ठ है और कितनों का निरुद्यमीपना श्रेष्ठ है।

जयन्ती–भगवन् ! यह कैसे ?

भगवान–जयन्ती ! जो अधार्मिक जीव हैं उनका निरुद्यमीपना श्रेष्ठ है और जो धार्मिक हैं, धर्मपरायण हैं उनका उद्यमीपना श्रेष्ठ है।

जयन्ती–भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत जीव, क्या कर्म बाँधता है ?

भगवान–जयन्ती ! केवल श्रोत्रेन्द्रिय के ही नहीं वरन् पाँचों ही इन्द्रियों के वशीभूत हुआ जीव अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

–भग. शतक १२, उ. २, सूत्र १-१०

जीवों की गति

गौतम–भगवन् ! क्या कर्म रहित जीव की गति होती है ?

भगवान–हाँ गौतम ! कर्मरहित जीव की गति होती है।

गौतम–कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

भगवान–गौतम ! निःसंगपने से, नीरागपने से, गति परिणाम से, बन्धन का छेद होने से, निरिन्धन होने से और पूर्व-प्रयोग से कर्मरहित जीव की गति होती है।

गौतम–भगवन् ! निःसंगपने से, नीरागपने से और गतिपरिणाम से कर्म रहित जीव की गति कैसे होती है ?

भगवान–गौतम ! जैसे कोई छिद्र रहित और निरुपहत (बिना टूटा हुआ) सूखा तुम्बा हो, उस सूखे हुए तुम्बे पर अत्यन्त संस्कारयुक्त, डाभ और कुश लपेट कर क्रमपूर्वक आठ बार मिट्टी का लेप कर दिया जाय। फिर उसे अथाह, दुस्तर पानी में डाल दिया जाय तो वह मिट्टी के आठ लेपों से भारी हो जाने से पानी के ऊपरी तल को छोड़कर नीचे पृथ्वीतल पर बैठ जाता है। फिर, कालान्तर में पानी में पड़े रहने के कारण ज्यों-ज्यों उसका लेप गलकर उतरता जाता है, त्यों-त्यों वह तुम्बा पृथ्वीतल को छोड़कर पुनः पानी की सतह पर आ जाता है।

इसी प्रकार गौतम ! निःसंगपने से, नीरागपने से, और गति-परिणाम से कर्मरहित जीव की भी गति ऊर्ध्व होती है।

गौतम–भगवन् ! बन्धन का छेद होने से कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

भगवान–गौतम ! जैसे कोई मटर की फली, मूंग की फली, उड़द की फली, एरण्ड का फल सूखा हो, तो फूटने पर बीज उछलकर दूर जा गिरता है। हे गौतम ! इसी प्रकार कर्मरूप बन्धन का छेद हो जाने पर, कर्म रहित जीव की गति होती है।

गौतम–भगवन् ! निरिन्धन होने से कर्म रहित जीव की गति कैसे होती है ?

भगवान–गौतम ! जिस प्रकार ईंधन से छूटे हुए धूंए की गति, किसी प्रकार की रुकावट के बिना स्वाभाविक रूप से ऊपर की ओर होती है, इसी

प्रकार हे गौतम ! कर्मरूप ईंधन से रहित होने से कर्म रहित जीव की गति होती है ?

गौतम–भगवन् ! पूर्व प्रयोग से कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है।

भगवान–गौतम ! जिस प्रकार धनुष से छूटा हुआ बाण किसी भी प्रकार की रुकावट के बिना लक्ष्याभिमुख जाता है, इसी प्रकार हे गौतम ! पूर्व प्रयोग से कर्मरहित जीव की गति होती है।

–भग. शतक ७, उ. १, सूत्र १०-१५

आरम्भी और अनारम्भी

संसार परिभ्रमण का हेतु आरंभ माना गया है। जितने आरंभ हैं सब दोषयुक्त हैं। मुक्ति पूर्ण निर्दोष को प्राप्त होती है। गीता में कहा है– **"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता"** अर्थात् जितने भी आरंभ हैं सब दोष से व्याप्त हैं। जैसे अग्नि के बिना धूम नहीं होता उसी प्रकार दोष के बिना आरंभ नहीं होता। आस्रवद्वार में प्रवृत्ति करना आरंभ है।

गौतम प्रश्न करते हैं–भगवन् ! क्या जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं या तदुभयारंभी हैं ?

भगवान फरमाते हैं–गौतम ! कितने जीव आत्मारंभी हैं, कितने परारंभी हैं और कितने जीव तदुभयारंभी हैं व कितने ही जीव अनारंभी हैं।

शंका–यदि आत्मा अरूपी है तो आरंभी कैसे हो सकता है ? अगर आत्मा अरूपी होते हुए भी आरंभी है तो सभी आरंभी होने चाहिये। कोई आरंभी और कोई अनारंभी यह भेद कैसे ?

समाधान–जीव दो प्रकार के हैं–संसार समापन्नक (संसारी) और असंसारसमापन्नक (असंसारी)। असंसारी अर्थात् सिद्ध भगवान् अनारम्भी हैं। संसारी जीव दो प्रकार हैं–संयत और असंयत। संयत भी प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत के भेद से दो तरह के हैं। अप्रमत्तसंयत अनारंभी हैं, और प्रमत्तसंयत शुभयोग की अपेक्षा आरंभी और अशुभयोग की अपेक्षा अनारंभी हैं।

–भग. श. १, उ. १, सूत्र ४७-४८

ज्ञान और चारित्र इहभविक या परभविक ?

बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानते हैं। उनके मत के अनुसार परलोक में अनुयायी आत्मा नहीं है। अतः आत्मा का ज्ञानगुण भी आत्मा के साथ नहीं जा सकता। इसका निराकरण करने के लिये गौतम पूछते हैं–

भगवन् ! मोक्ष के अंग ज्ञान आदि को आत्मा जब एक बार प्राप्त कर लेता है, तब वे भवान्तर में साथ रहते हैं या नहीं ?

भगवान कहते हैं–गौतम ! ज्ञान तीनों तरह का है कोई ज्ञान इहभविक है, कोई ज्ञान परभविक है और कोई उभयभविक–दोनों भवों में साथ रहने वाला है।

गौतम–भगवन् ! चारित्र इहभविक है, परभविक है या तदुभयभविक है?

भगवान–गौतम ! चारित्र इसी भव में रहता है। परभव में साथ नहीं जाता। इसी तरह तप और संयम भी समझना चाहिये।

यहाँ स्वरूप-रमण रूप चारित्र का ग्रहण नहीं किया है वरन् अनुष्ठान रूप–क्रिया स्वरूप चारित्र लिया गया है।

–भग. श. १, उ.१, सूत्र ५४-५५

महावेदना और महानिर्जरा

गौतम–भगवन् ! जीव महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं, महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं, अल्पवेदना व महानिर्जरा वाले हैं, अथवा अल्पवेदना वाले और अल्पनिर्जरा वाले हैं ?

भगवान–गौतम ! कितने ही जीव, महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं, कितने ही जीव महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं, कितने ही जीव अल्पवेदना व महानिर्जरा वाले हैं और कितने ही जीव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं।

गौतम–भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

भगवान–गौतम ! प्रतिमा प्रतिपन्न (प्रतिमा को धारण किया हुआ) साधु, महावेदना वाला और महानिर्जरा वाला है। छठी और सातवीं पृथ्वी में रहे हुए नैरयिक जीव, महावेदना वाले और अल्पनिर्जरा वाले हैं। शैलेशी

अवस्था को प्राप्त अनगार, अल्पवेदना वाले और महानिर्जरा वाले हैं। और अनुत्तरोपपातिक देव, अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं।

–भग. शतक ६, उ. १, सूत्र १२-१३

जीव सादि सान्त हैं ?

गौतम–भगवन् ! क्या जीव सादि सान्त हैं, सादि अनन्त हैं, अनादि सान्त हैं या अनादि अनन्त हैं ?

भगवान–कितने ही जीव सादि सान्त हैं, कितने ही सादि अनन्त हैं, कितने ही अनादि सान्त हैं, कितने ही अनादि अनंत हैं।

गौतम–भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

समाधान–गौतम ! नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति के जीव, गति-आगति की अपेक्षा सादि सान्त हैं। सिद्ध गति की अपेक्षा सादि-अनन्त हैं। लब्धि की अपेक्षा भवसिद्धिक जीव अनादि सान्त हैं। संसार की अपेक्षा अभवसिद्धिक जीव अनादि अनन्त हैं।

–भगवती ६/३/१२-१३

जीव और अजीव के परिणाम

भारतीय दर्शनों में सांख्य आदि परिणामवादी हैं और न्याय आदि दर्शन अपरिणामवादी। जो धर्म और धर्मी का अत्यन्त भेद स्वीकार करते हैं, वे अपरिणामवादी दर्शन हैं, तथा धर्म व धर्मी का अभेद स्वीकार करने वाले परिणामवादी दर्शन हैं। इसी कारण भारतीय दर्शनों में तीन प्रकार की नित्यता का विचार विभिन्न दार्शनिकों ने मान्य किया है। उनमें से रामानुज जैसों ने परिणामीनित्यता स्वीकार की। उसमें भी सांख्य ने मात्र प्रकृति में ही परिणामीनित्यता मानी। वे पुरुष को कूटस्थनित्य मानते हैं।[८] यही कूटस्थनित्यता नैयायिकों ने सब द्रव्यों में स्वीकार की है। बौद्ध क्षणिकवादी होने पर भी पुनर्जन्म मानते हैं, अतः उन्होंने नित्यता का एक तीसरा ही प्रकार संततिनित्यता पर बल दिया है।

द्रव्यों का परिणमन–रूपान्तर अर्थात् अवस्थान्तर होना परिणाम है। अर्थात् एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाना परिणाम है।

शिष्य प्रश्न करता है–भगवन् ! परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है?

गुरुदेव फरमाते हैं—आर्य ! परिणाम दो प्रकार का कहा है—जीव परिणाम और अजीव परिणाम। जीव के १० परिणाम हैं, इसी तरह अजीव के भी १० परिणाम हैं।

जीव परिणाम	अजीव परिणाम
(१) गति (नरकादि चार)	(१) बंधन (स्निग्ध-रूक्ष)
(२) इन्द्रिय (श्रोत्रादि पाँच)	(२) गति (स्पृशद्-अस्पृशद्)
(३) लेश्या (कृष्णादि छह)	(३) संस्थान (परिमंडलादि ५)
(४) कषाय (क्रोधादि चार)	(४) भेद (खंडादि ५)
(५) योग (मन आदि तीन)	(५) वर्ण (कृष्णादि पाँच)
(६) उपयोग (साकार-अनाकार)	(६) गंध (सुरभि-दुरभि)
(७) ज्ञान (मतिज्ञानादि ५)	(७) रस (तिक्तादि पाँच)
(८) दर्शन (सम्यग्दर्शनादि तीन)	(८) स्पर्श (कर्कशादि आठ)
(९) चारित्र (सामायिकादि पाँच)	(९) अगुरुलघु (एक)
(१०) वेद (स्त्री आदि तीन)	(१०) शब्द

—भगवती शतक १४, उ. ४, सूत्र ७

—प्रज्ञापना पद १३

●

पंचास्तिकाय विषयक चर्चाएँ

– अस्तित्व-नास्तित्व
– अस्तिकाय के पाँच प्रकार
– धर्मास्तिकाय
– अधर्मास्तिकाय
– आकाशद्रव्य
– परमाणु पुद्गल
– परमाणु शाश्वत या अशाश्वत ?
– पंचास्तिकाय रूपी या अरूपी ?
– परमाणु के चार प्रकार

अस्तित्व-नास्तित्व

गौतम–भगवन् ! क्या अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है ?

भगवान ने कहा–हाँ गौतम ! जो वस्तु सत् है उसका रूपान्तर भले ही हो जाय, मगर वह रहेगी सद्रूप ही। सत्ता कभी असत्ता नहीं बन सकती। गीता का कथन है–

"नासतो विद्यते भावो नाऽभावो जायते सतः"

अस्तित्व जैसे अस्तित्व में ही परिणत होता है, वैसे ही अत्यन्ताभाव रूप नास्तित्व, नास्तित्व रूप ही रहता है। जैसे–गधे के सींग। जो नास्तित्व है वह अस्तित्व रूप कभी नहीं होता, क्योंकि असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती।

–भग. श. १, उ. ३, सूत्र १२१

अस्तिकाय के पाँच प्रकार

गौतम–भगवन् ! अस्तिकाय कितने कहे गये हैं ?

भगवान–गौतम ! अस्तिकाय पाँच कहे गये हैं। यथा–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।

गौतम–भगवन् ! धर्मास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श हैं ?

भगवान–गौतम ! धर्मास्तिकाय में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं है, अर्थात् धर्मास्तिकाय अरूपी है, अजीव है, शाश्वत है, अवस्थित है, लोक व्याप्त द्रव्य है।

संक्षेप में धर्मास्तिकाय पाँच प्रकार का है–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण से। द्रव्य की अपेक्षा धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है। क्षेत्र से–लोक प्रमाण है। काल से अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। भाव से अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्शी है। गुण की अपेक्षा गति सहायक है अर्थात् जीवों और पुद्‌गलों की गति में सहायक बनता है।

जिस तरह धर्मास्तिकाय कहा ऐसे ही अधर्मास्तिकाय भी कहना चाहिये। अन्तर इतना है कि अधर्मास्तिकाय गुण से स्थिति गुण वाला है। आकाशास्तिकाय में क्षेत्र और गुण की अपेक्षा से विशेषता है। क्षेत्र से लोकालोक प्रमाण और गुण से अवगाहना गुण वाला है।

गौतम–भगवन् ! जीवास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गंध कितने रस और कितने स्पर्श हैं ?

भगवान–संक्षेप में जीवास्तिकाय के पाँच भेद हैं। द्रव्य से जीवास्तिकाय अनन्त जीवद्रव्य है। क्षेत्र से प्रदेशों की अपेक्षा लोक प्रमाण है। काल से अनादि अनन्त–नित्य है। भाव से अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है। गुण से उपयोग गुण वाला है।

गौतम–भगवन् ! पुद्‌गलास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श हैं ?

भगवान–गौतम ! पुद्‌गलास्तिकाय में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, और आठ स्पर्श है। वह रूपी है, अजीव है, शाश्वत है व अवस्थित है। संक्षेप में पाँच भेद हैं–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण।

द्रव्य से पुद्‌गलास्तिकाय अनन्त द्रव्यरूप है।

क्षेत्र से लोक प्रमाण है, अर्थात् समस्त लोकव्यापी है।

काल से अनादि अनन्त अर्थात् नित्य है।

भाव से वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्शवान् है।

गुण से वह पूरण-गलन गुण वाला है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और जीवास्तिकाय के प्रदेश असंख्यात हैं। आकाशास्तिकाय के प्रदेश अनन्त हैं, पुद्‌गलास्तिकाय में से किसी के संख्यात, किसी के असंख्यात और किसी के अनन्त हैं।

—भग. शतक २, उ. १०, सूत्र ५३/६२

धर्मास्तिकाय

गौतम ने भगवान से पूछा—भगवन् ! गति-सहायक तत्त्व अर्थात् धर्मास्तिकाय से जीवों को क्या लाभ है ?

भगवान ने कहा—गौतम ! यदि गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता ? शब्द की तरंगें किस प्रकार फैलतीं ? आँखें किस प्रकार खुलतीं ? कौन मनन करता ? कौन बोलता ? कौन हिलता-डुलता ? यह सम्पूर्ण विश्व अचल ही होता। जो चल है उन सभी का आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही है।

—भगवती १३/४

अधर्मास्तिकाय

गौतम—भगवन् ! कृपा कर यह बतायें कि स्थिति सहायक तत्त्व अधर्मास्तिकाय से जीवों को क्या लाभ है?

भगवान—गौतम ! यदि स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन होता? कौन बैठता ? सोना किस प्रकार होता ? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन करता ? कौन निस्पन्द बनता ? निमेष कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उन सभी का आलम्बन स्थिति सहायक तत्त्व अधर्मास्तिकाय ही है।

—भगवती १३/४

आकाशद्रव्य

जैन दर्शन के अनुसार आकाश एक स्वतंत्र द्रव्य है। उसका गुण शब्द नहीं। शब्द तो पुद्‌गलों के संघात और भेद का कार्य है। आकाश का गुण अवगाहन है। वह स्वयं आलम्बन है। सभी द्रव्य स्वरूप की दृष्टि से स्व-प्रतिष्ठित हैं किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से वे आकाश में प्रतिष्ठित हैं अतः आकाश सभी द्रव्यों का भाजन है।[१]

गणधर गौतम ने भगवान से पूछा—भगवन् ! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है ?

भगवान ने कहा—गौतम ! यदि आकाश द्रव्य नहीं होता तो जीव कहाँ पर रहते ? धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ पर व्याप्त होते ? काल कहाँ पर बरतता ? पुद्गल कहाँ पर अपने रंग बिरंगे दृश्य बताता ? यह विश्व निराधार हो जाता ?[१०]

द्रव्य की दृष्टि से आकाश अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से आकाश अनन्त विस्तार वाला है—लोक अलोकमय है।

काल की दृष्टि से आकाश अनादि-अनन्त है।

भाव की दृष्टि से आकाश अमूर्त है।

परमाणु पुद्गल

गौतम—भगवन् ! क्या परमाणु पुद्गल तलवार की धार या क्षुर-धार (उस्तरे की धार) पर रह सकता है ?

भगवान—हाँ गौतम ! रह सकता है।

गौतम—भगवन् ! उस धार पर रहा हुआ परमाणु पुद्गल क्या छिन्न-भिन्न होता है ?

भगवान—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। परमाणु पुद्गल पर शस्त्र का आक्रमण नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाय तो उसका परमाणुपना ही नष्ट हो जाय। इसी प्रकार असंख्य प्रदेशी स्कन्ध तक समझ लेना चाहिये।

जो अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तथाविध बादर परिणाम वाला होता है वह छेद-भेद को प्राप्त होता है और जो सूक्ष्म परिणाम वाला है वह छिन्न-भिन्न नहीं होता।

—भग. शतक ५, उ. ७, सूत्र ५-८

परमाणु शाश्वत या अशाश्वत ?

गौतम ने भगवान से प्रश्न किया—भंते ! परमाणु शाश्वत है या अशाश्वत ?

महावीर—देवानुप्रिय ! परमाणु शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

गौतम—भन्ते ! ऐसा कैसे ?

महावीर–गौतम ! द्रव्य दृष्टि से परमाणु शाश्वत है, वह सदा से है और सदा काल रहेगा। पर्याय दृष्टि से परमाणु अशाश्वत है, क्योंकि पर्याय में परिवर्तन होता रहता है।

अर्थात् ऐसा संभव है, कि अतीत काल में किसी एक समय में जो परमाणु पुद्गल रूक्ष हो वही अन्य समय में अरूक्ष हो जाय। पुद्गल स्कन्ध भी ऐसा हो सकता है। अथवा स्वभाव से या अन्य के प्रयोग द्वारा किसी पुद्गल में अनेक वर्ण परिणाम हो जाय और वैसा परिणाम नष्ट होकर बाद में एक वर्ण परिणाम भी उसमें हो सकता है। इस प्रकार पर्याय परिवर्तन के कारण पुद्गल की अनित्यता भी सिद्ध होती है और अनित्यता के होते हुए भी उसकी नित्यता में कोई बाधा नहीं आती।

–भग. शतक १४, उ. ४, सू. ५

पंचास्तिकाय रूपी या अरूपी

राजगृह के बाहर गुणशील चैत्य के सन्निकट कुछ अन्यतीर्थिक पंचास्तिकाय के विषय में चर्चा कर रहे थे। उन्होंने भगवान के अनन्य उपासक ''मद्दुक' को जाते हुए देखा, तो वे सब उसके पास जाकर पूछने लगे–मद्दुक ! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण भगवान महावीर पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमें एक को जीव शेष चार को अजीव कहते हैं। एक को रूपी और पाँच को अरूपी कहते हैं। इस सम्बन्ध में तुम्हारे पास क्या प्रमाण है ?

मद्दुक–इनके कार्यों से इनका अनुमान किया जा सकता है। संसार के कुछ पदार्थ दृश्य व कुछ अदृश्य होते हैं जो अनुभव, अनुमान और कार्य से जाने जाते हैं।

अन्यतीर्थिक–मद्दुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है जो अपने धर्माचार्य द्वारा कथित द्रव्यों को जानता और देखता नहीं, फिर भी मानता है ?

मद्दुक–आयुष्मन् ! सनसनाता हुआ पवन चल रहा है, क्या तुम उसका रंग रूप देखते हो ?

अन्यतीर्थिक–सूक्ष्म होने से हवा का रूप देखा नहीं जाता।

मद्दुक–गंध के परमाणु जो घ्राणेन्द्रिय के विषय होते हैं, अरणिकाष्ठ में रही हुई जो अग्नि है, इनके रंग-रूप को तुम देखते हो ? जिनको तुम नहीं देख सकते क्या वह वस्तु नहीं है ?

मद्दुक के अकाट्य तर्क के आगे सब अन्यतीर्थिक अवाक् रह गये। उन्हें मद्दुक की बात माननी पड़ी।

—भग. शतक १८, उ. ७, सूत्र १५

परमाणु के चार प्रकार

गौतम—भन्ते ! परमाणु कितने प्रकार के हैं ?

महावीर—आर्य ! परमाणु चार प्रकार के कहे हैं—द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु, और भाव परमाणु।

वर्णादि पर्याय से अविवक्षित सूक्ष्मतम द्रव्य परमाणु कहा जाता है। यही पुद्गल परमाणु है, जिसे अन्य दार्शनिकों ने भी परमाणु कहा है। आकाश द्रव्य का सूक्ष्मतम प्रदेश क्षेत्र परमाणु है। सूक्ष्मतम समय काल परमाणु है। जब द्रव्य परमाणु में रूपादि पर्याय प्रधानतया विवक्षित हो, वह भाव परमाणु है।

द्रव्य परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है। क्षेत्र परमाणु अनर्ध, अमध्य, अप्रदेश और अविभाग है। काल परमाणु अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है। भाव परमाणु वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त है।

—भग. शतक २०, उ. ५, सूत्र १२

देव विषयक चर्चाएँ

● देव के कितने प्रकार ?

देव के प्रकार

गौतम–भगवन् ! देव कितने प्रकार के हैं ?

भगवान–गौतम ! देव पाँच प्रकार के हैं–भव्यद्रव्यदेव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव और भावदेव।

गौतम–भगवन् ! भव्यद्रव्यदेव का क्या आशय है ?

भगवान–गौतम ! जो आगामी काल में देवत्व को प्राप्त होंगे परन्तु वर्तमान में देव के गुणों से शून्य हैं, वे भव्यद्रव्यदेव कहलाते हैं।

गौतम–भगवन् ! नरदेव से क्या तात्पर्य है ?

भगवान–गौतम ! मनुष्यों में देवतुल्य आराध्य, छः खण्ड के अधिपति, नवनिधि के स्वामी मनुष्येन्द्र अर्थात् चक्रवर्ती "नरदेव" कहलाते हैं।

गौतम–भगवन् ! धर्मदेव का क्या अर्थ है ?

भगवान–गौतम ! श्रुतादि धर्म द्वारा जो देवतुल्य आराध्य देवस्वरूप अनगार हैं, वे "धर्मदेव" कहे जाते हैं।

गौतम–भगवन् ! देवाधिदेव किसे कहते हैं ?

भगवान–पारमार्थिक देवत्व से जो देवों के भी आराधनीय हैं ऐसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान "देवाधिदेव" शब्द से संबोधित किये जाते हैं।

गौतम–भगवन् ! भावदेव से क्या अभिप्राय है ?

भगवान–जो देवगति सम्बन्धी नाम और गोत्र का वर्तमान में अनुभवन कर रहे हैं वे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये देवचतुष्क निकाय "भावदेव" से अभिहित किये जाते हैं।

–भग. शतक १२, उ. ९, सूत्र १-६

●

परिव्राजक सम्बन्धी चर्चाएँ

—आर्यस्कन्दक और महावीर

—परिव्राजक कालोदायी और महावीर

आर्यस्कन्दक और महावीर

कृतंगला के सन्निकट श्रावस्ती नगरी थी। वहाँ परिव्राजकों[११] का एक आश्रम था। उसका आचार्य था गर्दभाल। स्कन्दक उनका प्रमुख शिष्य था और वेद-वेदांग, षष्ठितंत्र, दर्शन-शास्त्र आदि का प्रकाण्ड विद्वान था। विद्वत्ता के साथ उसमें विनम्रता, सरलता और तत्त्व-जिज्ञासा भी थी। वह विशिष्ट तपस्वी भी था। उस श्रावस्ती में पिंगल नाम का निर्ग्रन्थ वेसालीय[१२] श्रावक रहता था। एक दिन वह परिव्राजक आवास में चला गया। उसने स्कन्दक परिव्राजक से आक्षेपात्मक भाषा में पूछा—

मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ?

जीव सान्त है या अनन्त ?

मोक्ष सान्त है या अनन्त ?

मुक्तात्मा सान्त है या अनन्त?

किस मरण से मरता हुआ जीव जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है अथवा घटाता है?

स्कन्दक यद्यपि विद्वान था। पर पिंगल के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सका। पिंगल ने इन प्रश्नों को पुनः दोहराया। स्कन्दक फिर मौन रहा। पिंगल समाधान लिये बिना लौट आया। स्कन्दक समाधान पाने को आतुर हो उठा।

उन्हीं दिनों स्कन्दक ने सुना कि भगवान महावीर कृतंगला नगरी के छत्रपलास उद्यान में विराजमान हैं। उसने सोचा—भगवान के पास जाकर इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करूँ। उसे भगवान के पास जाने और प्रश्नों का उत्तर पाने में कोई संकोच नहीं आया, क्योंकि उसकी जिज्ञासा प्रबल हो उठी थी। वह मुक्तभाव से भगवान के पास गया और भगवान ने स्कन्दक को मुक्तमन से प्रश्नों का उत्तर दिया—

स्कन्दक ! द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है। काल और पर्याय की अपेक्षा से लोक अनन्त है। अतः लोक सान्त भी है और अनन्त भी।

जीव भी द्रव्यापेक्षा एक और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से वह असंख्यात प्रदेशी है अतः सान्त है। काल की अपेक्षा से वह अतीत, वर्तमान और भविष्य त्रिकालस्थायी है अतः वह नित्य है और अनन्त है। भावापेक्षा अनन्त ज्ञानपर्यव, अनन्त दर्शनपर्यव और अनन्त गुरुलघुपर्यव रूप होने से अनन्त है। इस प्रकार द्रव्य व क्षेत्र की अपेक्षा से जीव अन्त युक्त है और काल व भाव की अपेक्षा से अन्त रहित है।

मोक्ष द्रव्यापेक्षा एक होने से सान्त है। क्षेत्रापेक्षा ४५ लाख योजन आयाम-विष्कंभ व एक करोड़, बयालीस लाख, तीस हजार, दो सौ उनपचास योजन से कुछ अधिक परिधि वाला होने से सान्त है। कालापेक्षा अनादि अनन्त है और भाव की अपेक्षा भी अनन्त पर्यव रूप है। सारांश यह है, कि द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से मोक्ष अन्तयुक्त है तथा काल व भाव की अपेक्षा से अन्तरहित है।

सिद्ध द्रव्यापेक्षा एक है, क्षेत्रापेक्षा असंख्य प्रदेशों में अवगाढ़ है अतः अन्त युक्त है। काल से सिद्ध की आदि है पर अन्त नहीं। भाव की दृष्टि से सिद्ध ज्ञान, दर्शन, पर्यव रूप है और उसका अंत नहीं है।

मरण दो प्रकार का है—बालमरण और पंडितमरण। बालमरण के द्वादश विकल्प हैं—

१. क्षुधा से छटपटाते हुए मरना।
२. इन्द्रियादिक की पराधीनता पूर्वक मरना।
३. शरीर में शस्त्रादिक के प्रवेश से या सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना।
४. जिस गति से मरे उसी का आयुष्य बांधना।
५. पर्वत से गिरकर मरना।
६. वृक्ष से गिरकर मरना।
७. पानी में डूबकर मरना।
८. अग्नि में जलकर मरना।
९. विष खाकर मरना।
१०. शस्त्र प्रयोग से मरना।
११. फाँसी लगाकर मरना।
१२. गृद्ध आदि पक्षियों से नुचवाकर मरना।

इन बारह प्रकार के बालमरण से मरने वाला जीव जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है।

स्कन्दक–भन्ते ! पण्डितमरण किसे कहते हैं, और वह कितने प्रकार है?

महावीर–आर्य ! पंडितमरण दो प्रकार का है–पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान। पुनः ये मरणद्वय निर्हारिम और अनिर्हारिम के भेद से दो दो प्रकार के हैं।

जो श्रमण उपाश्रय में पादपोपगमन या भक्तप्रत्याख्यान प्रारम्भ करते हैं, पण्डित मरण के पश्चात् उनका शव उपाश्रय व नगर से बाहर ले जाकर संस्कारित किया जाता है, एतदर्थ वह मरण निर्हारिम कहा जाता है। और जो श्रमण अरण्य में पादपोपगमन था भक्तप्रत्याख्यान द्वारा देहत्याग करते हैं, उनका शव संस्कार के लिये कहीं बाहर नहीं ले जाया जाता, इसलिये वह मरण अनिर्हारिम कहा जाता है। पादपोपगमन चाहे निर्हारिम हो या अनिर्हारिम, अप्रतिकर्म होता है, उस मरण में वैयावृत्य नहीं होती। भक्त प्रत्याख्यान निर्हारिम हो या अनिर्हारिम, उसमें वैयावृत्य निषिद्ध नहीं है। इस प्रकार पण्डितमरण से मरने वाला जीव संसार को घटाता है। दुर्गतिरूप संसार में अधिक समय परिभ्रमण नहीं करता।

भगवान से योग्य समाधान पाकर स्कन्दक के अन्तर्-चक्षु उद्घाटित हो गये। उसने महावीर के पास दीक्षा अंगीकार कर जैन-दृष्टि का परम रहस्य प्राप्त किया।[१४] –भग. शतक २, उ. १,

परिव्राजक कालोदायी और महावीर

भगवान महावीर राजगृह के गुणशीलक चैत्य में विराजमान थे। चैत्य के आस-पास अनेक अन्यतीर्थिक परिव्राजक रहते थे। एक दिन कालोदायी, शैलोदायी आदि कुछ परिव्राजक पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में वार्तालाप कर रहे थे। वे बोले–"श्रमण महावीर पंच अस्तिकायों का निरूपण करते हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनमें प्रथम चार अस्तिकायों को वे अजीव बतलाते हैं और पंचम अस्तिकाय को जीव। चार अस्तिकायों को वे अमूर्त्त बतलाते है और पुद्गलास्तिकाय को मूर्त्त। यह अस्तिकाय का सिद्धान्त कैसे मान्य किया जा सकता है?"

उनका परस्पर वार्तालाप चल रहा था। उस समय गणधर इन्द्रभूति उन्हें राजगृह के परिपार्श्व में दिखाई दिये। वे सभी गौतम के पास आये और बोले–

गौतम ! आपके धर्माचार्य पंच अस्तिकायों में एक को जीव शेष चार को अजीव, एक को मूर्त्त शेष चार को अमूर्त्त बताते हैं इसका रहस्य क्या है?

गौतम–देवानुप्रियो ! जो अस्ति है उसको अस्ति और जो सम्पूर्ण नास्ति है उसे नास्ति कहते हैं। भगवान ने उन्हीं के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है, जिनका अस्तित्व है।

गौतम का यह उत्तर सुनकर परिव्राजक मौन हो गये पर उनका अन्तर् मानस संदेह रहित नहीं हुआ। वे गौतम के पीछे-पीछे चलकर महावीर की धर्म सभा में आये। भगवान ने कालोदायी को सम्बोधित कर कहा– कालोदायिन् ! तुम्हारी सभा में पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा चली थी, उसी का स्पष्टीकरण करने के लिये तुम यहाँ आये हो?

कालोदायी–हाँ, भगवन् !

महावीर–कालोदायी ! पंचास्तिकाय हैं या नहीं यह संशय किसे होता है?

कालोदायी–भगवन् ! आत्मा को होता है।

महावीर–इसी से आत्मा अर्थात् जीवास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध होता है। इसी तरह जीव और पुद्गल की गति व स्थिति में निमित्तभूत धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय की सिद्धि होती है। आकाश में गति स्थिति दोनों होते हैं। आकाश आधार देता है। और पुद्गलास्तिकाय की वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से सिद्धि होती है।

कालोदायी–भन्ते ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन अरूपी अजीवकायों पर कोई जीव बैठना, उठना, सोना, खड़े रहना आदि क्रियायें कर सकता है?

महावीर– नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। केवल पुद्गल पर ही उपर्युक्त सर्व क्रियाएँ हो सकती हैं।

कालोदायी– हे भगवन् । पुद्गलास्तिकाय में जीवों को अशुभ फल देने वाले पाप कर्म लगते हैं?

होकर प्रकाशित होते हैं। पुद्‍गलों के अचित्त होने पर भी प्रयोक्ता हिंसक है और प्रयोग हिंसायुक्त है। हां, पुद्‍गल मात्र रत्नादिवत् अचित्त होते हैं।

भगवान से समाहित संशय वाला होकर कालोदायी ने श्रद्धावनत हो नमस्कार किया। वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का गहन अभ्यास कर अंत समय में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया।

—भग. शतक ७, उ. १०, सूत्र १-११

आर्द्रक मुनि और पार्श्वापत्य की चर्चाएं

- कालास्यवेषी और स्थविर
- संयम और तप का फल
- गांगेय अनगार

कालास्यवेषी और स्थविर

भगवान पार्श्व मोक्ष प्राप्त कर चुके थे और उनके २५० वर्ष बाद जब भगवान महावीर का शासन चल रहा था, उस समय भगवान पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य कालास्यवेषीपुत्र अनगार विचर रहे थे। उस समय उन्होंने भगवान के स्थविर श्रमणों से कुछ मार्मिक प्रश्न पूछे–

हे आर्यो ! सामायिक क्या है?' प्रत्याख्यान क्या है? संयम क्या है? संवर क्या है? विवेक क्या है? व्युत्सर्ग क्या है? क्या आप इन्हें जानते हैं?

उत्तर में उन स्थविरों ने कहा--आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग है।

कालास्यवैशिक अनगार– यदि आत्मा ही सामायिक है तो आप क्रोधादि कषायों की निन्दा क्यों करते हैं?

स्थविर–संयम आदि के लिये ही क्रोधादि पापों की निन्दा की जाती है। निन्दा करने से पाप के प्रति जो लगाव है वह समाप्त हो जाता है।

कालास्यवैशिक–निन्दा संयम है या अनिन्दा संयम है?

स्थविर–आत्मदोषों की निन्दा संयम है, अनिन्दा नहीं। पाप की निन्दा करने से दोषों का नाश होता है और आत्मा संयम में स्थापित होती है। जब तक दोषों को दोष रूप न समझा जाय, तब तक उससे बचा भी कैसे जा सकता है?

इस प्रकार तात्त्विक चर्चा कर कालास्यवैशिक पुत्र समाधान पाते हैं? उनके मन के संशय विलीन हो जाते हैं, और वे अपनी पूर्व-परम्परा का परित्याग कर भगवान महावीर की परम्परा को स्वीकार कर लेते हैं।

यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है, कि भगवान पार्श्व और महावीर की परम्परा में तात्त्विक विषयों में कोई अन्तर नहीं था। यदि अन्तर होता तो कालास्यवैशिक के मन का समाधान कदापि नहीं होता।

–भग. शतक १, उ. ९, सूत्र २९६

संयम और तप का फल

राजगृह के निकट ही तुंगिया नगरी थी। वहाँ पार्श्वनाथ परम्परा के अनेक तत्त्वज्ञानी श्रावक रहते थे। एक बार कुछ पार्श्वापत्य स्थविर पाँच सौ अनगारों के साथ परिभ्रमण करते हुए तुंगिया नगरी के पुष्यवतीक उद्यान में आये। श्रमणोपासकों ने स्थविरों का उपदेश सुना। तदनन्तर विचार चर्चा करते हुए उन्होंने प्रश्न किया–

भंते ! संयम का क्या फल है? तप का क्या फल है?

स्थविर– आर्यो ! संयम का फल नवीन कर्मों का निरोध (अनास्रव) और तप का फल पूर्व कर्मों का विमोचन है।

श्रमणोपासक–भन्ते ! यदि संयम का फल अनास्रव और तप का फल निर्जरा है, तो फिर देवलोक में उत्पन्न होने का हेतु क्या है?

स्थविर कालियुपत्र-आर्यो ! जीव पूर्व तप से देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

स्थविर आनंदरक्षित–आर्यो ! शेष कर्मों से जीव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

स्थविर काश्यप–आर्यो ! आसक्ति क्षीण न होने के कारण जीव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

अर्थात् सराग अवस्था में किये गए तप एवं संयम से अर्थात् संयम व तप में रही हुई आसक्ति के कारण पूर्ण कर्मक्षय न होने से आत्मा मोक्ष के बदले देवलोक को प्राप्त करता है।

स्थविरों के उत्तर सुनकर श्रमणोपासक अत्यन्त प्रसन्न हुए, परन्तु भिक्षा-निमित्त घूमते हुए इन्द्रभूति गौतम इन प्रश्नों का विवरण प्राप्त कर संदिग्ध हुए। भगवान के पास आकर बोले–

"भगवन् ! क्या पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा प्रदत्त उत्तर सत्य हैं, वे यथार्थ उत्तर देने में समर्थ हैं?

भगवान ने कहा–गौतम ! स्थविरों ने जो उत्तर दिये है वे यथार्थ हैं। वे सम्यग्ज्ञानी हैं। मैं भी इन प्रश्नों का यही उत्तर देता हूँ।

–भग. शतक २, उ. ५, सूत्र ३५

गांगेय अनगार

भगवान वाणिज्यग्राम के पार्श्ववर्ती दूतिपलाश चैत्य में ठहरे हुए थे। उस समय भगवान के शिष्य "गांगेय" नामक श्रमण भगवान के पास आये और बोले–

भन्ते ! नारकावास में नारक सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर–गांगेय ! नारक सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

गांगेय– भगवन् ! असुरकुमारादि भवनपति देव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर– असुरकुमारादि देव सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

गांगेय– भगवन् ! पृथिवीकायिकादि एकेन्द्रिय जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर–गांगेय ! पृथिवीकायिकादि जीव सान्तर उत्पन्न नहीं होते, वे स्व-स्व स्थान पर निरन्तर उत्पन्न होते हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य और देव सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

गांगेय–भन्ते ! नैरयिक सान्तर च्यवता है या निरन्तर च्यवता है?

महावीर–गांगेय ! नैरयिक सान्तर भी च्यवते हैं और निरंतर भी।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य तथा देव कभी सान्तर और कभी निरन्तर च्यवते हैं। परन्तु पृथ्वीकायिकादि निरन्तर उत्पन्न होने वाले एकेन्द्रिय जीव निरन्तर ही च्यवते हैं।

गांगेय– भन्ते ! "प्रवेशनक" कितने प्रकार के हैं ?

महावीर– गांगेय ! प्रवेशन चार प्रकार का है– नैरयिक प्रवेशन, तिर्यग्योनि प्रवेशन, मनुष्य प्रवेशन और देवप्रवेशन। उसके पश्चात् भगवान् ने विभिन्न नैरयिकों के प्रवेशन के सम्बन्ध में विस्तृत सूचनाएँ दीं।

गांगेय– भन्ते ! तिर्यंचयोनिक प्रवेशन कितने प्रकार का कहा है ?

महावीर– गांगेय ! पांच प्रकार का कहा है–एकेन्द्रिय योनिक प्रवेशनक यावत् पंचेन्द्रिय योनिक प्रवेशनक। उसके पश्चात् भगवान ने विस्तृत रूप से उसके सम्बन्ध में वर्णन किया।

गांगेय–भन्ते ! मनुष्य प्रवेशनक कितने प्रकार का है ?

महावीर– वह दो प्रकार का है– संमूर्च्छिम मनुष्य प्रवेशनक और गर्भज मनुष्य प्रवेशनक। इनका भी भगवान् ने सविस्तृत विवेचन किया।

गांगेय–भगवन् ! देवप्रवेशनक कितने प्रकार का है ?

महावीर–गांगेय ! देवप्रवेशनक चार प्रकार का है–भवनवासी देवप्रवेशनक, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवप्रवेशनक। इनके सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया।

गांगेय– भगवन् ! सत् नारक उत्पन्न होते हैं या असत्? इसी प्रकार तिर्यंच, मनुष्य और देव सत् उत्पन्न होते हैं या असत् ?

महावीर– सभी सत् उत्पन्न होते हैं, असत् की उत्पत्ति नहीं होती। तथा सभी सत् ही मरते हैं असत् नहीं।

गांगेय– भन्ते ! सत् की उत्पत्ति कैसी? और मरे हुए की सत्ता किस प्रकार ?

महावीर– लोकनेता, पुरुषादानीय पार्श्व ने लोक को शाश्वत बताया है। अतः उसमें सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का सर्वथा नाश भी नहीं होता।

गांगेय– भन्ते ! आप जो कह रहे हैं वह स्वयं आत्म-प्रत्यक्ष से जानते हैं या किसी हेतु प्रयुक्त अनुमान से अथवा आगम से जानकर कहते हैं?

महावीर– गांगेय ! यह सब मैं स्वयं जानता हूँ। किसी भी अनुमान अथवा आगम के आधार पर नहीं कहता। आत्म-प्रत्यक्ष बात ही कह रहा हूँ।

गांगेय– भगवन् ! अनुमान और आगम बिना आप स्वयं इस विषय को कैसे जान सकते हैं?

महावीर– गांगेय ! केवली का ज्ञान अनावृत होता है, वह सर्वतः मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। केवली का ज्ञान प्रत्यक्ष होने से उसमें सर्व वस्तुतत्त्व प्रतिभासित होते हैं। अर्हत् पार्श्व के वचन का उद्धरण तो मैंने तुम्हारी श्रद्धा को सहारा देने के लिए दिया है।

गांगेय- भन्ते ! नरक में नारक, तिर्यंच गति में तिर्यंच, मनुष्य गति में मनुष्य और देवगति में देव स्वयं उत्पन्न होते हैं या किसी की प्रेरणा से ? वे अपनी गतियों से स्वयं निकलते हैं या उन्हें कोई निकालता है?

महावीर- आर्य गांगेय ! सभी जीव अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार शुभाशुभ गतियों में उत्पन्न होते हैं और वहाँ से निकलते हैं। इसमें अन्य कोई प्रेरक नहीं है।

भगवान की वाणी सुनकर गांगेय का संदह दूर हो गया। उन्हें अच्छी तरह विश्वास हो गया कि श्रमण भगवान महावीर सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। वे तुरन्त विनयपूर्वक वन्दन करके निकट आये और पंच महाव्रत रूप धर्म को अंगीकार कर लिया। —भग. शतक ९, उ. ३२, सूत्र ९-१५

●

कर्म-मीमांसा

- चलमाणे चलिए
- स्वयं कृत कर्म
- कांक्षा मोहनीय
- कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि
- जीव भारी कैसे होता है ?
- एक समय में एक ही आयुष्य का बंध होता है
- एक भव में एक आयुष्य का वेदन होता है
- अल्पायु और दीर्घायु बाँधने के कारण
- बंध के हेतु
- वेदना
- फल विपाक
- गर्भ प्रवेश की स्थिति

चलमाणे चलिए

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं– हे भगवन् ! जो चल रहा है वह चला, जो उदीरा जा रहा है– वह उदीरा गया, जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया, जो गिर रहा है वह गिरा, जो छिद रहा है वह छिदा, जो भिद रहा है वह भिदा, जो जल रहा है वह जला, जो मर रहा है वह मरा और जो निर्जर रहा है वह निर्जीर्ण हुआ, क्या इस प्रकार कहा जा सकता है ?

भगवान बोले– हे गौतम ! जो चल रहा है वह चला यावत् जो निर्जरित हो रहा है वह निर्जीर्ण हुआ, इस प्रकार कहा जा सकता है।

प्रश्न होता है, कि जो कर्मपुद्गल ''चल रहे हैं'' वे वर्तमान काल में हैं, उन्हें ''चले'' ऐसा भूतकाल में कैसे कहा सकता है ?

शंका का समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं, कि यदि ''चलमाणे चलिए'' का अर्थ ऐसा नहीं माना जाएगा तो सारा व्यवहार विकृत हो जाएगा, और जब व्यवहार दूषित होगा तो आत्मिक क्रिया भी नष्ट होगी

ही। जैसे—कोई आदमी दिल्ली से चल पड़े कलकत्ता के लिए, तो जो पहला कदम उठाएगा वह भी कलकत्ता के लिए उठाएगा और अंतिम कदम जितना कलकत्ता में पहुँचाएगा उतना ही पहला कदम भी पहुँचा रहा है। और अगर पहला नहीं पहुँचाएगा तो अन्तिम कदम भी नहीं पहुँचा सकता है। यानि जब दिल्ली से कलकत्ता चलने का पहला कदम उठाया, तभी वह कलकत्ता पहुँचने लगा। कलकत्ता एक कदम पास आ गया और एक एक कदम पास आता जाता है। हालांकि हो सकता है वह छह महिने बाद यह कहे, कि अब कलकत्ता आया, लेकिन वह छह महिने पहले ही आना शुरू हो गया था इसलिए छह महिने बाद आ चुका है।

अथवा पानी को कोई गर्म कर रहा है, पहली डिग्री पर गर्म हो गया, अभी भाप नहीं बना, भाप तो सौ डिग्री पर बनेगा। लेकिन पहली डिग्री पर भी पानी भाप बनने के करीब पहुँचने लगा। क्योंकि सौवीं डिग्री भी एक डिग्री है और पहली डिग्री भी एक ही डिग्री है। ९९ से १०० तक जो यात्रा करनी पड़ी है वही यात्रा एक से सौ तक करनी पड़ी है उसमें कोई फर्क नहीं है। पर ९९ डिग्री तक हम अपने को धोखा देते हैं, कि पानी अभी भाप नहीं बना। १००वीं डिग्री के करीब आती जाएगी। ''चलमाणे चलिए'' का सिद्धान्त यही सिखाता है कि मोक्ष गया नहीं है, लेकिन जाने लगा कि गया समझो।

तात्पर्य यह है—स्थूलदृष्टि से घट बनाना एक क्रिया समझी जाती है। किन्तु सूक्ष्म विचार से प्रतीत होता है कि कुंभकार के घट बनाने के संकल्प से लेकर घट की अन्तिम निष्पत्ति तक अनेकानेक-अगणित क्रियाएँ होती हैं। कुंभार का मिट्टी लाना, उसे पानी से भिगोना, मसलना, पिण्ड बनाना, पिण्ड को हाथों में लेना, चाक पर रखना, दंड ग्रहण करना, दंड को चाक के गड्ढे में स्थापित करना, चाक को घुमाना, चाक के घूमने में वेग उत्पन्न करना, दंड को हटाना, एक ओर रख देना, पिंड को शिवक, छत्रक आदि अनेक आकारों में परिणत करना, ये सब अनेक क्रियाएँ हैं। इनके बीच-बीच में भी अनेक सूक्ष्मतर क्रियाएँ होती हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। वस्तुतः एक-एक समय में अलग-अलग एक-एक क्रिया होती है और निश्चयनय की दृष्टि से जिस समय में क्रिया का प्रारम्भ होता है उसी समय में उस क्रिया की समाप्ति हो जाती है। इस अपेक्षा से ''चलमाणे चलिए'' यह कथन युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

शिष्य शंका करता है कि "चलमाणे चलिए" इत्यादि प्रश्न करने का अभिप्राय क्या है?

गुरुदेव समाधान करते हैं–केवलज्ञान की उत्पत्ति और समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष का क्रम बतलाने के लिए इन नौ पदों की चर्चा की गई है।

किसी आचार्य का अभिप्राय है कि ये नौ पद सिर्फ कर्म के विषय में ही सीमित नहीं है, अपितु ये वस्तु मात्र के लिए लागू होते हैं। प्रथम चार पद उत्पत्ति के सूचक हैं और अन्त के पाँच पद विनाश के सूचक हैं। इन्हें प्रत्येक विषय पर घटाया जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु उत्पाद और विनाश से युक्त है। **–भगवती सूत्र शतक १, उ. १, सूत्र १**

स्वयं कृत कर्म

जीव अपने किये हुए कर्म को ही भोगता है किन्तु परकृत कर्म का भोग नहीं करता है। जैसा कि कहा है–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थक तदा॥

स्वयं आत्मा ने जो कर्म पहले उपार्जन किये हैं, उन्हीं कर्मों का शुभ या अशुभ फल वह आत्मा भोगता है। यदि दूसरों के किये कर्म आत्मा भोगने लगे, तो अपने किये हुए कर्म निरर्थक हो जाएंगे।

गौतम– भगवन् ! क्या जीव स्वयंकृत दुःख भोगता है ?

भगवान–गौतम ! कुछ भोगता है, कुछ नहीं भोगता।

अर्थात् उदीर्ण–उदय में आए हुए कर्मों को भोगता है।

–भग. श. १, उ. २, सू. ६४

कांक्षा मोहनीय

साधना का मुख्य प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति है। मोक्ष प्राप्ति में कांक्षा मोहनीय कर्म प्रबल बाधक है। इसके हटे बिना मोक्ष तो क्या मोक्षमार्ग भी पूरी तरह प्राप्त नहीं होता। अतः मोक्ष मार्ग की प्राप्ति के लिये कांक्षा मोहनीय कर्म दूर करना अनिवार्य है।

प्रश्न होता है कि अन्य जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधें इसमें तो कोई विवाद नहीं है, लेकिन शायद श्रमण इसका बंध नहीं करते होंगे? साधु संसार का त्याग कर चुके हैं उनकी बुद्धि जिनागम से पवित्र हो चुकी है,

अतएव वे कांक्षा मोहनीय कैसे वेदते होंगे? साथ ही मोह का वेग कितना प्रबल होता है, उसकी शक्ति कितनी प्रचण्ड है यह बात बालजीव बोधाय गौतम भगवान से पूछते हैं–

भगवन् ! क्या श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं?

भगवान–गौतम ! श्रमण भी निम्न कारणों से कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं–

ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर के द्वारा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा वाले, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं।

–भग. शतक १, उ. ३, सूत्र ११७-११८

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि

गौतम–भगवन् ! जो पापकर्म किया है, क्या उसे भोगे बिना नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव का मोक्ष नहीं होता है?

भगवान्–गौतम ! किये हुए कर्मों को भोगे बिना नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव किसी का भी मोक्ष नहीं होता। क्योंकि मैंने कर्म के दो भेद बताये हैं–प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म। प्रदेश कर्म निश्चय ही भोगे जाते हैं। अनुभाग कर्म कोई वेदा जाता है और कोई नहीं वेदा जाता है।

"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" किये हुए कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं। चाहे किसी कर्म को विपाक से भोगे या किसी को प्रदेश से।

–भग. श. १, उ. सूत्र १५४

जीव भारी कैसे होता है ?

गौतम–भगवन् ! जीव किस प्रकार गुरुत्व को प्राप्त होते हैं?

भगवान ने कहा–गौतम ! प्राणातिपात–प्रमादपूर्वक प्राणों का अतिपात करने से, मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन से, परिग्रह से, क्रोध-मान-माया-लोभ से, राग-द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान–झूठा दोषारोपण करने से, पैशुन्य–चुगली से, पर-परिवाद–निन्दा करने से, रति-अरति से,

मायामृषा—मायापूर्वक झूठ बोलने से, मिथ्यादर्शन शल्य—विपरीत श्रद्धा से जीव कर्मों का संचय कर भारी गुरुत्व को प्राप्त होता है।

गौतम—भगवन् ! जीव किस प्रकार लघुत्व को प्राप्त होते हैं?

भगवान—गौतम ! उपर्युक्त १८ पापस्थानों का त्याग करने से जीव शीघ्र लघुत्व को प्राप्त होते हैं।

—भग. शतक १, उ. १, सूत्र २८०/२८१

एक समय में एक ही आयुष्य का बंध होता है

गौतम—भगवन् ! अन्ययूथिक यह बात कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि एक जीव एक समय में दो आयुष्य का बंध करता है। इस भव का आयुष्य बांधता है, उसी समय परभव का आयुष्य भी बांधता है और जिस समय परभव का आयुष्य बांधता है, उसी समय इस भव का आयुष्य भी बांधता है। परभव का आयुष्य बांधता हुआ इस भव का आयुष्य बांधता है और इस भव का आयुष्य बांधता हुआ परभव का आयुष्य बांधता है। भगवन् ! क्या यह कथन ठीक है?

भगवान बोले—गौतम ! एक समय में एक जीव के दो आयुष्य बांधने की बात गलत है, क्योंकि एक समय में एक जीव एक ही आयुष्य का बंध करता है—इस भव का आयुष्य अथवा परभव का आयुष्य।

—भग. सूत्र शतक ५, उ. ३, सूत्र १

एक भव में एक आयुष्य का वेदन होता है

गौतम—भगवन् ! अन्य तीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, प्ररूपणा करते हैं, कि जैसे एक के बाद एक, क्रमपूर्वक अन्तर रहित गांठें देकर जाल (मछलियां पकड़ने का साधन) बनाया जाता है। वह जाल उन सब गांठों से गुम्फित यावत् संलग्न रहता है। इसी तरह जीवों ने अनेक भव किये हैं। उन अनेक जीवों के अनेक आयुष्य उस जाल की गांठों के समान परस्पर संलग्न हैं। इसलिये एक जीव एक ही समय दो भव का आयुष्य वेदता है—इस भव का और परभव का। हे भगवन् ! यह किस तरह है?

भगवान—अन्य तीर्थिकों का उपर्युक्त कथन मिथ्या है। आयुष्य के लिये अनेक जीवों के एक साथ तथा एक जीव के एक साथ दो आयुष्य वेदन के लिये उन्होंने जो जालग्रन्थि का दृष्टान्त दिया है वह अयुक्त है। क्योंकि यदि आयुष्य को जाल-ग्रन्थि के समान माना जाय तो अनेक जीवों का आयुष्य

एक साथ रहने का प्रसंग आएगा, जो कि बाधित है। इसी तरह एक जीव के साथ अनेक भवों के आयुष्य का संबंध होने से अनेक गति के वेदन का प्रसंग आयेगा, तथा दो भव के आयुष्य का वेदन मानने से दो भवों को भोगने का प्रसंग आयेगा, जो कि प्रत्यक्ष-बाधित है। आयुष्य के लिये जालग्रन्थि का जो दृष्टान्त है वह केवल शृंखला रूप समझना चाहिये। जिस तरह सांकल की कड़ियां परस्पर संलग्न हैं, उसी तरह एक भव के आयुष्य के साथ दूसरे भव का आयुष्य प्रतिबद्ध है और उसके साथ तीसरे, चौथे आदि भवों का आयुष्य क्रमशः प्रतिबद्ध है। इस तरह भूतकालीन हजारों आयुष्य मात्र सांकल के समान प्रतिबद्ध हैं।

तात्पर्य यह है, कि एक के बाद दूसरे आयुष्य का वेदन होता जाता है। परन्तु एक ही भव में अनेक आयुष्य प्रतिबद्ध नहीं है। अतः एक जीव एक समय में एक ही आयुष्य का वेदन करता है। अर्थात् जब इस भव के आयुष्य का वेदन करता है तब परभव के आयुष्य का वेदन नहीं करता है।

—भग. शतक ५, उ. ३, सूत्र १

अल्पायु और दीर्घायु बांधने के कारण

गौतम–भगवन् ! जीव अल्पायु फल वाले कर्म कैसे बांधते हैं?

भगवान–गौतम ! तीन कारणों से जीव अल्पायु फल वाले कर्म बांधते हैं। यथा–प्राणियों की हिंसा करने से, झूठ बोलने से, और तथारूप श्रमण, माहण को अप्रासुक अनेषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम देने से जीव, अल्पायु फल वाले कर्म बांधते हैं।

गौतम–भगवन् ! जीव दीर्घायु फल वाले कर्म किन कारणों से बांधते हैं?

भगवान–गौतम ! तीन कारणों से जीव दीर्घायु फल वाले कर्म बांधते हैं। यथा–प्राणियों की हिंसा न करने से, झूठ नहीं बोलने से और तथारूप माहन, ब्राह्मण को प्रासुक, एषणीय आहार-पानी बहराने से जीव शुभ दीर्घायु फल वाले कर्म बांधते हैं।

—भग. शतक ५, उ. ६, सूत्र १/२

मोह एक उन्माद है

गौतम–भगवन् ! उन्माद कितने प्रकार का है?

भगवान–गौतम ! उन्माद दो प्रकार का है–यक्षावेश से और मोहनीय कर्म के उदय से जनित।

जिससे विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाय उसे "उन्माद" कहते हैं।

यक्षावेश उन्माद देवता आदि के प्रवेश से होता है। और मोह कर्म के उदय से आत्मा का पारमार्थिक विवेक नष्ट हो जाता है।

इन दोनों उन्मादों में से मोहजन्य उन्माद की अपेक्षा यक्षावेश उन्माद सुख पूर्वक वेदने योग्य और सुखपूर्वक छुड़ाने योग्य होता है। मोहजन्य उन्माद दुःखपूर्वक वेदन किया जाता है, क्योंकि मोहमूढ़ जीव अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है। विद्या, मन्त्र-तन्त्र और देवों द्वारा भी उसका छुड़ाया जाना अशक्य है। यक्षावेश उन्माद इन उपायों से सुख-विमोचनतर है। कहा भी है–

सर्वज्ञ मन्त्रवाद्यपि यस्य न सर्वस्य निग्रहे शक्तः ।
मिथ्यामोहोन्मादः स केन किस कथ्यतां तुल्यः ॥

अर्थात् सर्वज्ञ रूप महामंत्रवादी महापुरुष भी मोह-जन्य उन्माद का निग्रह करने में असमर्थ हैं। मिथ्यामोहोन्माद की किसी के साथ तुलना नहीं की जा सकती।

इसलिये कहा है कि यक्षावेश उन्माद की अपेक्षा मोहजन्य उन्माद दुःख पूर्वक वेदने योग्य है।

–भग. शतक १४, उ. २, सूत्र २

बंध के हेतु

आगम साहित्य में कर्म बंध हेतुओं का निरूपण अनेक दृष्टियों से किया गया है।

गणधर गौतम ने निवेदन किया–भगवन् ! जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधता है?

भगवान–हाँ गौतम ! बाँधता है।

गौतम–कृपया भगवन् ! यह बताइये कि वह किन कारणों से बांधता है?

भगवान–गौतम ! उसके दो हेतु हैं–प्रमाद और योग।

गौतम–भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

भगवान–योग से।

गौतम–भगवन् ! योग किससे उत्पन्न होता है?

भगवान–वीर्य से।

गौतम–वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान–जीव से।

सारांश यह है कि जीव शरीर का निर्माता है। शरीर ही क्रियात्मक वीर्य का साधन है। जो जीव शरीरधारी है वही प्रमाद और योग के द्वारा कांक्षा मोहनीय कर्म का बंध करता है।

–भगवती श. १, उ. ३, सूत्र १२६/१३१

वेदना

एक समय श्रमण भगवान महावीर राजगृह के गुणशीलक नामक उद्यान में समवसृत हुए। परिषद् एकत्रित हुई। धर्म देशना श्रवण कर परिषद् चली गई। गणधर गौतम ने भगवान से जिज्ञासा की–भगवन् ! नैरयिक जीव कितने प्रकार के पुद्‌गलों का भेद और उदीरणा करते हैं।

भगवान ने कहा–गौतम ! नैरयिक जीव कर्म पुद्‌गल की अपेक्षा अणु और बाह्य (सूक्ष्म और स्थूल) इन दो प्रकार के पुद्‌गलों का भेद और उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार चय, उपचय, वेदना, निर्जरा, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति, और निकाचन करते हैं।

गौतम ने पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण पुद्‌गलों का ग्रहण अतीत काल में करते हैं? वर्तमान काल में करते हैं या अनागत काल में करते हैं?

भगवान ने समाधान दिया–गौतम ! नैरयिक जीव तैजस कार्मण पुद्‌गलों का ग्रहण अतीत काल में नहीं करते, वर्तमान काल में करते हैं, अनागत काल में नहीं करते।

गौतम ने पुनः पूछा–भगवन् ! नैरयिक जीव अतीत में ग्रहण किये हुए तैजस और कार्मण पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं? वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं? ग्रहण समय पुरस्कृत वर्तमान से अगले समय में ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं?

भगवान् ने कहा–गौतम ! वे अतीतकाल में ग्रहण किये हुए पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं, वे न वर्तमान काल में ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं और न ग्रहण समय पुरस्कृत पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं।

इसी तरह अतीत काल में गृहीत पुद्‌गलों की वेदना और निर्जरा होती है।

–भगवती श. १, उ. १, सूत्र ८/९/१०

फल विपाक

एक समय भगवान महावीर राजगृह के गुणशीलक नामक चैत्य में समवसृत थे। उस समय कालोदायी नामक अनगार ने भगवान से पूछा–भगवन् ! जीवों के किये हुए पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है?

भगवान्–हां, कालोदायी होता है।

कालोदायी–भगवन् ! यह कैसे होता है?

भगवान–कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण विष सहित भोजन करता है वह भोजन आपातभद्र यानि खाते समय अच्छा लगता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है त्यों-त्यों उसमें दुर्गन्ध पैदा होती है–वह परिणाम-भद्र नहीं होता। कालोदायी ! इसी तरह प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से अठारह प्रकार के पाप आपातभद्र और परिणाम विरस होते हैं। कालोदायी ! इस प्रकार पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं।

कालोदायी ने पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! क्या जीवों के किये हुए कल्याण कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है?

भगवान–हां, होता है।

कालोदायी–भगवन् ! वह कैसे?

भगवान–कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ स्थालीपाक (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण भोजन करता है जो विविध प्रकार की औषधियों से युक्त है वह भोजन आपातभद्र नहीं लगता परन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है त्यों-त्यों उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति समुत्पन्न होती है, वह परिणाम भद्र होता है। इसी तरह प्राणातिपात-विरति

यावत् मिथ्यादर्शन विरति आपातभद्र नहीं लगती पर परिणाम भद्र होती है। कालोदायी ! इसी तरह कल्याण कर्म जो भी होते हैं वे कल्याण विपाक वाले होते हैं।

—भगवती ७/१०, सूत्र ५, ६, ७, ८

गर्भ प्रवेश की स्थिति

गणधर गौतम ने भगवान से पूछा—भगवन् ! जीव गर्भ में प्रवेश करते समय स-इन्द्रिय होता है या अन्-इन्द्रिय होता है?

भगवान बोले—गौतम ! स-इन्द्रिय भी होता है और अनिन्द्रिय भी।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—यह किस प्रकार है?

भगवान ने उत्तर दिया—द्रव्य इन्द्रिय की अपेक्षा वह अनिन्द्रिय है और भाव इन्द्रिय की अपेक्षा से वह सइन्द्रिय है।

—भगवती १/७, सूत्र २४१, २४२

गौतम ने प्रश्न किया—भगवन् ! जीव गर्भ में प्रवेश करते समय स-शरीरी है या अ-शरीरी है?

भगवान ने कहा—गर्भ में प्रवेश करते समय जीव स्थूल शरीर अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक की अपेक्षा अशरीर है और सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण की अपेक्षा स-शरीर है।

—भगवती १/७, सूत्र २४३

शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! गर्भ में प्रवेश पाते समय जीव का आहार प्रथम कौन सा होता है?

गुरु ने समाधान किया—गर्भ में प्रवेश पाते समय प्रथम आहार जीव ओज और वीर्य का करता है। गर्भस्थ जीव का आहार मां के आहार का ही सार अंश होता है। वह कवल आहार लेता है और समूचे शरीर से परिणत करता है। उसके उच्छ्वास निःश्वास भी सर्वात्मना होते हैं। उसके आहार परिणमन, उच्छ्वास और निश्वास पुनः-पुनः होते हैं।

—भगवती १/७, सूत्र २४५

●

ज्ञान और उपयोग विषयक चर्चाएँ

ज्ञान मीमांसा

१. ज्ञान और उपयोग विषयक चर्चाएँ
२. अनेकान्तवाद सम्बन्धी चर्चाएँ
३. भाषा विषयक चर्चाएँ

- ज्ञान और उसके पाँच प्रकार
- केवलज्ञान
- ज्ञानदर्शन युगपत् नहीं

ज्ञान और उसके पाँच प्रकार

जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप समझा जाय अथवा जिससे समझा जाय या जिसमें समझा जाय, वह ज्ञान[१५] है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मा के तत्त्व बोध को ज्ञान कहते हैं।

शिष्य ने प्रश्न किया–भन्ते ! ज्ञान कितने प्रकार का है ?

गुरुदेव ने कहा–आर्य ! ज्ञान पाँच प्रकार से प्रतिपादन किया है–आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

(क) आभिनिबोधिक ज्ञान–सम्मुख आए हुए पदार्थों के प्रतिनियत स्वरूप का बोध जिससे हो वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। यह ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है।

(ख) श्रुतज्ञान–"**श्रूयते इति श्रुतम्**" अर्थात् शब्दानुसारी ज्ञान श्रुतज्ञान है। यह ज्ञान भी इन्द्रियों और मन से होता है तथापि इस ज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता है। "**श्रुतमनिन्द्रियस्य**"[१६]

(ग) अवधिज्ञान–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा के अनुसार जो ज्ञान द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानने की शक्ति रखता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आत्मा से सम्बन्धित है, इन्द्रियों और मन की अपेक्षा नहीं रखता।

(घ) मनःपर्यवज्ञान–जो ज्ञान मन की पर्यायों को प्रत्यक्ष जानने की शक्ति रखता है वह मनःपर्यवज्ञान है। यह भी अतीन्द्रिय ज्ञान है।

(ङ) केवलज्ञान–जो ज्ञान समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को आत्म-शक्ति से प्रत्यक्ष जानता व देखता है वह केवलज्ञान है।

पाँच प्रकार के ज्ञानों में प्रथम दो ज्ञान परोक्ष कहलाते हैं और अंतिम तीन प्रत्यक्ष।

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है वह परोक्ष है, क्योंकि वह ज्ञान इन्द्रिय मन के आधीन है और जो ज्ञान साक्षात् आत्मा से होता है, इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं रखता वह प्रत्यक्ष कहलाता है। अवधि-ज्ञान और मनःपर्यवज्ञान ये दोनों देश प्रत्यक्ष हैं, केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

आभिनिबोधिक ज्ञान दो प्रकार का है–श्रुतिनिश्रित–श्रुतज्ञान से सम्बन्धित[16] और अश्रुतनिश्रित तथाविधक्षयोपशम भाव से उत्पन्न, श्रुतनिरपेक्ष।

अश्रुतनिश्रित चार प्रकार का है–

औत्पत्तिकी तथाविधक्षयोपशम भाव से शास्त्राभ्यास के बिना ही उत्पन्न होने वाली बुद्धि औत्पत्तिकी है।

वैनयिकी–गुरु आदि की विनय से उत्पन्न हुई बुद्धि।

कार्मिकी–शिल्पादि कर्म के अभ्यास से उत्पन्न बुद्धि।

पारिणामिकी–चिरकाल तक पूर्वापर पर्यालोचना से एवं वय के परिपाक से उत्पन्न बुद्धि।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का है। दर्शन के पश्चात् अवान्तर सामान्य मनुष्यत्व आदि का ज्ञान अवग्रह है।[17] अवग्रह से जाने हुए पदार्थ को विशेष जानने की जिज्ञासा ईहा है।[18] ईहा द्वारा जाने हुए पदार्थ में विशेष निर्णय का होना अवाय है।[19] और निर्णीत अर्थ को धारण कर रखना धारणा है अर्थात् अवाय ज्ञान जब अत्यन्त दृढ़ बन जाता है, उसे ही धारणा कहते हैं।

अवग्रह के बिना ईहा, अवाय, धारणा नहीं होती, ईहा के अभाव में अवाय, धारणा नहीं होती, ईहा के अभाव में अवाय, धारणा और अवाय के अभाव में धारणा नहीं होती।[20]

अवग्रह के दो भेदों में व्यंजनावग्रह चक्षु और मन को छोड़कर चार इन्द्रियों से होता है।[21] तथा अर्थावग्रह, ईहा अवाय व धारणा पाँचों इन्द्रियों और मन से होता है।

शिष्य ने प्रश्न किया–भन्ते ! श्रुतज्ञान-परोक्ष कितने प्रकार का है ?

गुरुदेव ने कहा–आर्य ! श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का है–

अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत, संज्ञीश्रुत, असंज्ञीश्रुत, सम्यक्श्रुत, मिथ्याश्रुत, सादिश्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत, अपर्यवसितश्रुत, गमिकश्रुत, अगमिकश्रुत, अंगप्रविष्टश्रुत और अंगबाह्यश्रुत।[२२]

शिष्य ने प्रश्न किया–भन्ते ! अवधिज्ञान प्रत्यक्ष कितने प्रकार का है ?

गुरुदेव ने कहा–आर्य ! अवधिज्ञान भवप्रत्यय–भव जिसके क्षयोपशम में प्रधान कारण है, और क्षायोपशमिक–अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाला, इस तरह दो प्रकार का है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकीयों को होता है।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रियों को होता है।

अथवा गुणप्रतिपन्न अनगार को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह छह प्रकार से होता है–

आनुगामिक–सूर्य और आतप के समान जो ज्ञान अपने उत्पत्तिस्थान से, ज्ञानी के अन्यत्र जाने पर भी नेत्र के समान साथ रहता है।

अनानुगामिक–साथ में नहीं जाने वाला ज्ञान अर्थात् शृंखलाबद्ध दीपक के समान जहाँ उत्पन्न होता है वहीं रहने वाला।

वर्धमानक–अध्यवसायों की विशुद्धि से ईंधन डालने पर अग्नि की तरह सतत बढ़ने वाला ज्ञान।

हीयमानक–संक्लिष्ट परिणाम आ जाने से बिना ईंधन की अग्निवत् निरन्तर हीन, हीनतर, हीनतम होने वाला।

प्रतिपातिक–बुझते हुए दीपक के समान जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद एकदम नष्ट हो जाता है।

अप्रतिपातिक–जो अवधिज्ञान केवलज्ञान होने से पहले नहीं जाता, उसे अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहते हैं।

द्रव्य से अवधिज्ञानी जघन्य अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता और देखता, उत्कृष्ट सब रूपी द्रव्यों को जानता और देखता है।

क्षेत्र से अवधिज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र में स्थित रूपी द्रव्यों को जानता व देखता है, उत्कृष्ट अलोक में लोक परिमित असंख्य खण्डों को जानता व देखता है।[२३]

काल से अवधिज्ञानी जघन्य एक आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र काल को और उत्कृष्ट अनागत असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाणकाल के रूपी पदार्थों को जानता व देखता है।

भाव से अवधिज्ञानी जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त भावों को जानता व देखता है, किन्तु सर्व पर्यायों के अनन्तवें भाग मात्र को जानता और देखता है।

मनःपर्यवज्ञान मनुष्यों को ही होता है और वह भी अतिशय लब्धि वाले ऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ही मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। शेष को नहीं।

मनःपर्यवज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। ऋजुमति से विपुलमति कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध और वितिमिरतर होता है।

द्रव्य से मनःपर्यवज्ञानी मनरूप में परिणत मनोवर्गणा को जानता व देखता है। क्षेत्र से मनुष्य क्षेत्र, काल से असंख्यकाल (अतीत-अनागत) और भाव से मनोवर्गणा की अवस्थाओं को जानता और देखता है।

शिष्य ने प्रश्न किया-भन्ते ! केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

गुरुदेव ने कहा-केवलज्ञान दो प्रकार का है-भवस्थ केवलज्ञान और सिद्ध केवलज्ञान। भवस्थ केवलज्ञान पुनः दो प्रकार का है-सयोगी भवस्थ केवलज्ञान-तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव का केवलज्ञान और अयोगी भवस्थ केवलज्ञान-चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव का केवलज्ञान। सिद्ध केवलज्ञान दो प्रकार का है-अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान और परम्परासिद्ध केवलज्ञान। अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान पन्द्रह प्रकार का है। तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध आदि।

परम्परा सिद्ध केवलज्ञान अनेक तरह का है जैसे-अप्रथमसमयसिद्ध, द्विसमयसिद्ध यावत् अनन्तसमयसिद्ध का केवलज्ञान।

द्रव्य से केवलज्ञानी सर्व द्रव्यों को जानता व देखता है।

क्षेत्र से लोकालोक को जानता व देखता है।

काल से त्रिकालवर्ती द्रव्यों और पर्यायों को जानता व देखता है।

भाव से सर्व भावों-पर्यायों को जानता व देखता है।

केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यपरिणाम, औदयिक आदि भावों का अथवा वर्ण,

गंध, रस आदि को जानने का कारण है, अन्तरहित तथा शाश्वत व अप्रतिपाती है ऐसा यह केवलज्ञान एक प्रकार का ही है।

(क) भग. शतक ८, उ. २, सू. १७

(ख) नन्दीसूत्र का सारांश

केवलज्ञान

गौतम ने पूछा–भगवन् ! केवली इन्द्रिय और मन से जानता और देखता है?

भगवान–गौतम ! वह इन्द्रियों से नहीं जानता है और नहीं देखता है।

गौतम–भगवन् ! ऐसा किस अपेक्षा से है?

भगवान–गौतम ! केवली पूर्व–दिशा में मित को भी जानता है अमित को भी जानता है जो इन्द्रियों का विषय नहीं है।

केवलज्ञान में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं होती।

–भगवती ६/१०, सूत्र १२-१३

ज्ञान दर्शन युगपत् नहीं

गौतम ने पूछा–भगवन् ! छद्मस्थ मनुष्य परमाणु को जानता है पर देखता नहीं, यह सत्य है? अथवा जानता भी नहीं, देखता भी नहीं यह सत्य है?

भगवान ने कहा–गौतम ! कई छद्मस्थ विशिष्ट श्रुत-ज्ञान से परमाणु को जानते हैं पर दर्शन के अभाव में वे देख नहीं सकते और कई जो सामान्य श्रुतज्ञानी होते हैं वे न तो जानते हैं और न देखते हैं।

गौतम–परम अवधिज्ञानी परमाणु को जिस समय जानते हैं उस समय देखते हैं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते हैं?

भगवान महावीर–गौतम ! वे जिस समय परमाणु को जानते हैं उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं उस समय जानते नहीं।

गौतम–भगवन् ! ऐसा किस प्रकार है?

भगवान–गौतम ! ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार है इसलिए दोनों एक साथ नहीं हो सकते। –भगवती १८/८, सूत्र ७

●

अनेकान्तवाद सम्बन्धी चर्चाएँ

- जीव सान्त व अनन्त
- जीव शाश्वत व अशाश्वत
- सकम्प और निष्कम्प
- सवीर्य और अवीर्य

जैन दर्शन की चिन्तन शैली का नाम अनेकान्त है और प्रतिपादन शैली का नाम स्याद्वाद है। जानने का कार्य ज्ञान का है और बोलने का कार्य वाणी का है। ज्ञान की शक्ति असीम है और वाणी की शक्ति ससीम है। ज्ञेय और ज्ञान अनन्त है पर वाणी अनन्त नहीं है। अतः अनन्त ज्ञान अनन्त ज्ञेयों को जानकर भी वाणी के द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

सूत्रकृतांग में भिक्षु किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा- "विभज्यवाद का प्रयोग करे"। टीकाकारों ने विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद किया है। अनेकान्तवाद, नयवाद, अपेक्षावाद या पृथक्करण करके या विभाजन करके किसी तत्त्व का विवेचन करना। अपेक्षाभेद से स्यात् शब्द का प्रयोग आगम में अनेक स्थलों पर हुआ है।

स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। उस वस्तु स्वरूप के यथार्थ ग्रहण के लिए अनेकान्त दृष्टि है। स्याद्वाद उस दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। यह अपेक्षाभेद से विरोधी धर्म युगलों का विरोध मिटाने वाला है। जो वस्तु सत् है उस रूप में वह असत् नहीं है। स्व-रूप की दृष्टि से सत् है तो पर-रूप की दृष्टि से असत् है। दो निश्चित दृष्टिबिन्दुओं के आधार पर वस्तु-तत्त्व का विश्लेषण करने वाला वाक्य कभी संशयरूप नहीं हो सकता। अतः स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथंचिद्वाद भी कहते हैं।

श्रमण भगवान महावीर ने स्याद्वाद पद्धति से अनेक प्रश्नों का समाधान किया है।

एक बार भगवान महावीर वाणिज्यग्राम में पधारे। वेदशास्त्रों के निष्णात सोमिल ने भगवान से पूछा–भगवन् सरिसव भक्ष्य है या अभक्ष्य है?

महावीर–सोमिल ! मैं सरिसव को भक्ष्य भी मानता हूँ और अभक्ष्य भी।

सोमिल–वह कैसे ?

महावीर–ब्राह्मण ग्रन्थों में "सरिसव" शब्द के दो अर्थ हैं एक सदृशवय और दूसरा सर्षप याने सरसों। इनमें से समानवय वाले (१) सहजात (२) सहवर्धित (३) सहप्रांशु क्रीडित। ये तीनों श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं और धान्यसरिसव जिसे सर्षप कहते हैं। उसके भी सचित्त–अचित्त, एषणीय-अनेषणीय, याचित-अयाचित, लब्ध-अलब्ध ऐसे दो-दो भेद हैं। उनमें से हम अचित्त को ही निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य मानते हैं, वह भी एषणीय, याचित और लब्ध हो। इसके अतिरिक्त सचित्त, अनेषणीय आदि सभी प्रकार के सरिसव श्रमणों के लिए अभक्ष्य हैं, एतदर्थ ही सरिसव को मैं भक्ष्य और अभक्ष्य–दोनों मानता हूँ।

सोमिल–भगवन् ! मास को आप भक्ष्य मानते हैं या अभक्ष्य ?

महावीर–वह भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

सोमिल–वह किस प्रकार?

महावीर–ब्राह्मण ग्रन्थों में मास दो प्रकार का कहा है–द्रव्यमास और कालमास। इनमें से कालमास श्रावण से लेकर आषाढ़ मास पर्यन्त है, जो बारह ही मास अभक्ष्य हैं। द्रव्यमास भी दो प्रकार का है (१) अर्थमास (माष) और धान्यमास (माष)। इनमें से अर्थमास भी दो प्रकार का है–सुवर्णमाष और रुप्यमाष। ये दोनों माष श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। अब रहा धान्यमास, उसके भी शस्त्रपरिणत, अशस्त्रपरिणत, एषणीय, अनेषणीय, याचित, आयाचित, लब्ध और अलब्ध, अनेक प्रकार हैं। उनमें से शस्त्रपरिणत, एषणीय और लब्ध धान्य ही श्रमणों के लिए भक्ष्य है, शेष सचित्त आदि दोषयुक्त धान्यमास अभक्ष्य हैं।

सोमिल–भगवन् ! कुलत्था आपके लिए भक्ष्य है या अभक्ष्य है ?

महावीर–कुलत्था भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

सोमिल–यह कैसे ?

महावीर–ब्राह्मण ग्रन्थों में "कुलत्था" शब्द के दो अर्थ होते हैं कुलथी धान्य और कुलीन स्त्री। कुलीन स्त्री तीन प्रकार की होती हैं–कुलकन्या, कुलवधू और कुलमाता। ये कुलत्था श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

"कुलत्था" धान्य भी सरिसव की तरह अनेक प्रकार का होता है। उसके शस्त्र-परिणत, एषणीय, याचित और लब्ध कुलत्था श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य है, शेष अभक्ष्य है।

सोमिल–भगवन् ! आप एक हैं या दो हैं ? अक्षय, अव्यय और अवस्थित हैं या भूत, भविष्यत् वर्तमान के अनेक रूपधारी हैं ?

महावीर–मैं एक भी हूँ और दो भी हूँ। अक्षय हूँ, अव्यय हूँ और अवस्थित भी हूँ, फिर अपेक्षा से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के नाना रूपधारी भी हूँ।

सोमिल--वह कैसे भगवन् ?

महावीर–सोमिल ! मैं द्रव्य रूप से एक आत्म-द्रव्य हूँ। उपयोग गुण की दृष्टि से ज्ञान उपयोग और दर्शन उपयोग रूप चेतना के भेद से दो हूँ। आत्म प्रदेशों में कभी क्षय, व्यय और न्यूनाधिकता नहीं होती इसलिए अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ। परन्तु परिवर्तनशील उपयोग पर्यायों की अपेक्षा भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान के नाना रूपधारी भी हूँ।

भगवान महावीर ने अनेकान्त दृष्टि से सोमिल के सभी प्रश्नों का सही समाधान कर दिया। —भगवती १८/१०, सूत्र १५/१८

जीव सान्त अनन्त

परिव्राजक आर्य स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा–

द्रव्य दृष्टि से जीव सान्त है।

क्षेत्र दृष्टि से जीव सान्त है।

काल दृष्टि से जीव अनन्त है।

भाव दृष्टि से जीव अनन्त है।

जीव शाश्वत अशाश्वत

जमाली के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा–जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।

द्रव्य दृष्टि से जीव शाश्वत है। वह कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा–ऐसा नहीं; वह था, है और होगा अतः वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित है। पर्याय की दृष्टि जीव से अशाश्वत है वह

नैरयिक होकर तिर्यंच हो जाता है, तिर्यंच होकर मनुष्य और मनुष्य होकर देव हो जाता है। यह अवस्था चक्र परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से जीव अशाश्वत है।

जिस दृष्टि से जीव शाश्वत है उस दृष्टि से जीव अशाश्वत नहीं है। एक ही पदार्थ एक ही काल में शाश्वत और अशाश्वत दोनों विरोधी धर्मों का आधार है।

सकम्प और निष्कम्प

गौतम–भन्ते ! जीव सकम्प है या निष्कम्प ?

महावीर–गौतम ! जीव सकम्प भी है और निष्कम्प भी है।

गौतम–इसका कारण क्या है ?

महावीर–जीव संसारी और मुक्त रूप से दो प्रकार का है।

जो मुक्त जीव हैं वे दो प्रकार के हैं–अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध। परम्परसिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनन्तरसिद्ध सकम्प।

संसारी जीवों के भी दो प्रकार हैं–शैलेशी और अशैलेशी। शैलेशी जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशी सकम्प होते हैं।

–भगवती २५/४, सूत्र ३५-३६

सवीर्य और अवीर्य

गौतम–जीव सवीर्य है या अवीर्य।

महावीर–जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी है।

गौतम–इसका क्या रहस्य है ?

महावीर–जीव संसारी और मुक्त रूप से दो प्रकार के हैं। मुक्त तो अवीर्य है। संसारी जीव भी शैलेशी प्रतिपन्न और अशैलेशी प्रतिपन्न से दो प्रकार का है। शैलेशी प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है, किन्तु करण वीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है; और अशैलेशी प्रतिपन्न जीव लब्धि वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है किन्तु करण वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी है और अवीर्य भी है। जो जीव पराक्रम करते हैं वे करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और जो अपराक्रमी हैं वे करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं।

–भगवती १/८/२७५-२७६

सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान

गौतम–भन्ते ! यदि कोई ऐसा कहे, कि "मैं सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव और सर्वसत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूँ," तो क्या उसका वह प्रत्याख्यान, सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान ?

महावीर–गौतम ! उस आत्मा का स्यात् सुप्रत्याख्यान है और स्यात् दुष्प्रत्याख्यान है।

गौतम–भन्ते ! इसका क्या अभिप्राय है ?

महावीर–जिसको यह भान नहीं कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान, दुष्प्रत्याख्यान है। वह मृषावादी है। किन्तु जिसे यह ज्ञात है, कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, वह सत्यवादी है।

–भगवती सूत्र शतक ७, उ. २, सू. १

आत्मा है या नहीं

गौतम–भन्ते ! रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है ?

महावीर–गौतम ! रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादात्मा है, स्यादात्मा नहीं है।

रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादवक्तव्य है। अर्थात् आत्मा है, आत्मा नहीं है–यह युगपत् कहा नहीं जा सकता।

उक्त तीन भंगों को सुनकर गौतम पुनः जिज्ञासा उपस्थित करते हैं–भन्ते! आप एक ही पृथ्वी को विभिन्न प्रकार से किस अपेक्षा से प्रतिपादन करते हैं?

महावीर–आयुष्मन् गौतम ! आत्मा स्व के आदेश से आत्मा है। पर के आदेश से आत्मा नहीं है और तदुभयादेश से अवक्तव्य है।

रत्नप्रभा की तरह ही गौतम ने सभी पृथ्वी, सभी देवलोक और सिद्धशिला के विषय में पूछा। भगवान ने सभी प्रश्नों का उत्तर स्याद्वाद दृष्टि से दिया। –भग. शतक १२, उ. १०, सूत्र १५

भाषा विषयक चर्चाएँ

निष्ठुर वचन न बोले

गौतम–भगवन् ! क्या देवों को "संयत" कहा जा सकता है ?

भगवान्–गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। देवों को संयत कहना असत्य वचन है।

गौतम–भगवन् ! देवों को "असंयत" कहना चाहिये ?

भगवान्–नहीं, गौतम ! "देव असंयत है" यह निष्ठुर वचन है।

गौतम–भगवन् ! क्या देवों को "संयतासंयत" कहना चाहिये ?

भगवान्–गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। क्योंकि देवों को संयतासंयत कहना असद्भूत (असत्य) वचन है।

गौतम–भगवन् ! तो फिर देवों को क्या कहना चाहिये ?

भगवान्–गौतम ! देवों को "नोसंयत" कहना चाहिये।

–भग. शतक ५, उ. ४, सूत्र १६-१९

पारिभाषिक शब्द-कोष

अंग–अंगसूत्र बारह हैं–आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्म कथा, उपासक दशांग, अनुत्तरोपपातिक, अन्तकृतदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद।

अंग प्रविष्ट–तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधरों ने ग्रहण करके जो द्वादशांगी रूप में सूत्रबद्ध किया वह अङ्गप्रविष्ट है।

अंगबाह्य–कालदोषकृत बुद्धि, बल और आयु की अल्पता देखकर गणधरों के पश्चाद्वर्ती शुद्ध बुद्धि आचार्यों द्वारा रचे गये शास्त्र अंग बाह्य हैं।

अंगोपांग नामकर्म–जिस कर्म स्कन्ध के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की निष्पत्ति होती है। अथवा शरीरगत अंगों और उपांगों का निमित्तभूत कर्म।

अंतः कोटा-कोटी–करोड़ के ऊपर और करोड़ा-करोड़ के नीचे अंतकृत केवली-जिन्होंने संसार का अंत कर दिया है।

अंतकृत् केवली–जिन्होंने संसार का अंत कर दिया है।

"संसारस्यान्तः कृती यैस्तेऽन्तकृतः (केवलिनः) –धवला

अंतरात्मा–बाह्य विषयों से हटकर अन्तर् की ओर झुकी हुई जीव की दृष्टि अन्तरात्मा है।

अंतराय कर्म–अन्तराय का अर्थ विघ्न है। जो कर्म जीव के गुणों में बाधक बनता है, वह अन्तराय कर्म है।

"विघ्नकरणमन्तरायस्य"–तत्त्वार्थ सूत्र ६/२७"

"अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तरायः"–धवला।

अर्थात् जो दाता-देय आदि के अन्तर मध्य में आ जाता है वह अन्तराय कर्म है।

अंतर्मुहूर्त–मुहूर्त से कम और आवली से अधिक समय।

अकम्पित–ये मिथिला निवासी गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता देव और माता जयन्ती थी। तीन सौ छात्रों के साथ ४८ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली। ५७ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया और भगवान महावीर के अंतिम वर्ष में ७८ वर्ष की अवस्था में राजगृह के गुणशीलक चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया। ये भगवान के ग्यारह गणधरों में से अष्टम गणधर थे।

अक्रियावादी–''**नास्त्येव जीवादिकः पदार्थः इत्येवंवादिनो–क्रियावादिनः**''–सूत्र वृत्ति १२-११८ (जो जीवादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता वह अक्रियावादी है।)

अगुरुलघुगुण–जिस गुण के निमित्त से द्रव्य का द्रव्यपन सदा बना रहे अर्थात् द्रव्य का कोई गुण न तो अन्य गुण रूप हो सके और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो सके। तथा द्रव्य के गुण बिखरकर पृथक्-पृथक् नहीं हो सकें। और जिसके निमित्त से प्रत्येक द्रव्य में तथा उसके गुणों में प्रति समय षट्गुण हानि-वृद्धि होती रहे, वह अगुरुलघु गुण है। अगुरुलघु गुण का यह सूक्ष्म परिणमन वचन के अगोचर है।

अगुरुलघु नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव लोहपिण्डवत् न तो भारी हो और न आक की रूई के समान हल्का हो।

अग्निभूति–इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई। ४६ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की: १२ वर्ष छद्मस्थावस्था में रहे और सोलह वर्ष तक केवली अवस्था में विचरण किया। भगवान महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पूर्व राजगृह के गुणशीलक चैत्य में मासिक अनशन कर चौहत्तर वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए।

अचलभ्राता–ये कोशला ग्राम के निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपके पिता वसु और माता नन्दा थीं। तीन सौ छात्रों के साथ ४६ वर्ष की अवस्था में श्रमणत्व स्वीकार किया। १२ वर्ष छद्मस्थ रहे और चौदह वर्ष केवली अवस्था में विचरण कर ७२ वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के साथ राजगृह के गुणशीलक चैत्य में परिनिवृत्त हुए। ये भगवान महावीर के नवम गणधर थे।

अजीव–जिसमें चेतना न पायी जाय।

अतिव्याप्ति दोष–लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण का रहना।

अतिप्रसंगदोष–अस्ति-नास्ति दोनों में से किसी एक को ही मानने से कार्य हो सकता है, तो फिर दोनों को मानने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार मानना अतिप्रसंगदोष है। और वह केवल वचन का विलास है।

अचक्षुदर्शन–अचक्षुभिः चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय मनोभिदर्शनमचक्षुर्दर्शनम्" (प्रज्ञापनाः मलय. वृ. २३/२९३)

अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले सामान्य प्रतिभास या अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं।

अतीन्द्रिय सुख–इन्द्रिय व मन की अपेक्षा से रहित आत्ममात्र की अपेक्षा से होने वाला निराकुल, निराबाध सुख।

अतीर्थङ्करसिद्ध–सामान्य केवली होकर सिद्ध होने वाले जीव।

अतीर्थसिद्ध–तीर्थ से अभिप्राय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका से है। तीर्थ के अभाव में तीर्थान्तर में सिद्ध होने वाली आत्माएं। जैसे–मरुदेवी माता।

अत्यन्ताभाव–जिसका त्रिकाल में भी सद्भाव सम्भव न हो उसका अभाव। जैसे–खरगोश के सिर पर सींगों का अभाव।

अदत्तादान–स्वामी की आज्ञा के बिना परकीय वस्तु का ग्रहण।

अधर्मास्तिकाय–जो स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों की स्थिति में निमित्तभूत हो।

अनक्षरश्रुत–उच्छ्वसित, निःश्वसित, हुंकारादि ध्वनि अनक्षरश्रुत है।

अननुगामी अवधि–जो अवधिज्ञान क्षेत्रान्तर या भवान्तर में अपने स्वामी के साथ नहीं जाता।

अनन्तानुबंधी–अनन्त भवों की परम्परा चालू रखने वाली कषायों को अनन्तानुबंधी कहते हैं।

अनपवर्तनीय–जितनी स्थिति बांधी गई है उतनी ही स्थिति का वेदन करना व अपने काल की अवधि से पूर्व उसका विघात–नाश न होना।

अनवस्था–अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते हुए विश्रान्ति का अभाव अनवस्था है।

अनुगम–वस्तु के अनुरूप ज्ञान को अनुगम कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है, वह अनुगम है।

अनुगामी अवधिज्ञान–सूर्य के प्रकाश के समान देशान्तर या भवान्तर में जाते हुए अवधिज्ञानी के साथ जाने वाला ज्ञान है।

अनुमान–साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। जैसे–धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान।

अनुयोग–सूत्र के साथ अर्थ की अनुकूल योजना अनुयोग है।

अनेकसिद्ध–एक ही समय में अनेक जीवों का एक साथ सिद्ध होना।

अनेकान्त–एक ही वस्तु में अनेकों क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती धर्मों, गुणों, स्वभावों व पर्यायों का प्रतिपादन।

अन्यलिङ्गसिद्ध–परिव्राजक आदि अन्य लिङ्गों से सिद्ध होने वाली आत्माएं।

अभिनिबोध–अर्थाभिमुख होकर इन्द्रिय और मन के आश्रय से अपने नियत विषय का जैसे–चक्षु से रूप का बोध।

अर्थापत्ति–जहाँ अभीष्ट अर्थ से अनिष्ट की आपत्ति आए, जैसे–"ब्राह्मण की हत्या नहीं करनी चाहिये" इस अभीष्ट अर्थ से अब्राह्मण घात की आपत्ति। यह ३२ सूत्र दोषों में से एक है।

अर्थावग्रह–व्यक्त पदार्थ का ग्रहण अथवा व्यंजनावग्रह के अंतिम समय में गृहीत शब्दादि अर्थ का अवग्रहण।

अर्हन्त–जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का विनाश करके स्वयं परमात्मा बन जाता है। उस परमात्मा की दो अवस्थाएं हैं–एक शरीर सहित जीवन्मुक्त अवस्था और दूसरी शरीर रहित देह मुक्त अवस्था। पहली अवस्था को यहां अर्हन्त व दूसरी अवस्था को सिद्ध कहा जाता है।

अवधिज्ञान–जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना ही मूर्त्त पदार्थों को ग्रहण करता है, वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अवधिज्ञान है।

अवसर्पिणी–जिस काल में जीवों के अनुभव, आयु प्रमाण और शरीरादि क्रमशः घटते जाते हैं वह काल अवसर्पिणी काल है। यह दस कोटा-कोटी सागरोपम का होता है।

अविनाभाव–जिसके बिना जिसकी सिद्धि न हो।

अविरति–हिंसादि पापों से विरत–अलग न होना।

असत्–अविद्यमान पदार्थ असत् है।

असंयम–चारित्रमोह के उदय से होने वाली हिंसादि और इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति असंयम है।

असंज्ञी–जो जीव मन के न होने से शिक्षा, उपदेश और आलापादि को ग्रहण न कर सके।

असंसारसमापन्नजीव-प्रज्ञापना–मोक्ष को प्राप्त हुए सिद्ध जीवों की प्ररूपणा।

असातावेदनीय–जिस कर्म का अनुभवन परिताप के साथ किया जाय। अर्थात् असाता का अर्थ दुःख है उस दुःख का जो वेदन कराता है वह कर्म।

असिद्ध–जिसका स्वरूप प्रमाण से सिद्ध न हो।

असुरकुमार देव–जो भवनवासी देव गम्भीर, शोभा सम्पन्न, कृष्ण वर्णवान्, महाकाय और अपने मुकुट में चूड़ामणि रत्न को धारण करते हैं।

अस्तिकाय–बहु प्रदेशों के समूह को "काय" कहते हैं, और अस्तित्व का अर्थ सत्ता है। कालद्रव्य परमाणु मात्र प्रमाण वाला होने से उसे छोड़कर शेष पांच द्रव्य अधिक प्रमाण वाले होने के कारण कायवान् हैं। अस्तित्व और कायत्व से युक्त पांच अस्तिकाय हैं।

अस्तित्व–पदार्थों के सत्तारूप मौलिक धर्म का नाम अस्तित्व है। यह जीवादि सभी पदार्थों का साधारण अनादि पारिणामिक भाव है।

अस्थिरनाम–जिसके उदय से उपवासादि करने से अथवा शीत उष्णता के थोड़े से सम्बन्ध से ही अंग-उपांग कृशता को प्राप्त हों अथवा जिस कर्म के उदय से शरीर के कान, जीभ आदि अवयवों में अस्थिरता या चंचलता हो।

अहिंसा–रागादि भावों की अनुद्भूति या अनुत्पत्ति अहिंसा है।

आकाश–खाली जगह (Space) को आकाश कहते हैं, इसे एक अखण्ड, अमूर्त्त द्रव्य स्वीकार किया गया है, जो अपने अन्दर सर्व द्रव्यों के समाने की शक्ति रखता है। अवगाहना शक्ति की विचित्रता के कारण छोटे से लोक में अथवा इसके एक प्रदेश पर अनन्तानन्त द्रव्य स्थित हैं।

आगम–पूर्वापर दोष रहित, शुद्ध आप्त का वचन आगम है।

आचारांग–जिसमें मुनियों के आचार का वर्णन है, वह आचारांग है। यह द्वादशांगी का प्रथम अंग शास्त्र है।

आतप नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर में आतप की प्राप्ति हो।

आत्मा–दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जो सदा प्राप्त हो। अथवा शुद्ध चैतन्य लक्षण का धारक आत्मा है। अथवा "अत्" धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थ में है और सब गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक भी होती है। इस वचन से जो यथासंभव ज्ञान, सुखादि गुणों में सर्व प्रकार वर्तता है, वह आत्मा है।

आदेयनाम-अनादेयनाम–जिस कर्म के उदय से जीव जो भी व्यवहार करता है उसे लोग प्रामाणिक मानते हैं, वह आदेयनाम तथा जिसके उदय से अच्छा काम करने पर भी जीव गौरव को प्राप्त न हो, वह अनादेय नाम है।

आनुपूर्वीनाम–जो जीव विवक्षित गति में उत्पन्न होने वाला है और अभी विग्रहगति में वर्तमान है वह जिस कर्म के उदय से आकाश प्रदेश की पंक्ति के अनुसार जाकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त हो। कितने ही आचार्य कहते हैं कि जो कर्म निर्माण नाम के द्वारा निर्मित शरीर के अंग उपांगों की रचना-विशेष का नियामक होता है, वह आनुपूर्वी नामकर्म है।

आप्त–जिसके राग, द्वेष व मोह का सर्वथा नाश हो गया है अथवा जो प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और परम हितोपदेशी है, वह आप्त है।

आयुकर्म–जीव की किसी विवक्षित शरीर में टिके रहने की अवधि का नाम आयु है। इस आयु का निमित्त कर्म आयुकर्म है।

आरम्भ–प्राणियों को दुःख पहुंचाने वाली प्रवृत्ति।

आर्य–जो गुणों या गुणीजनों द्वारा मान्य हों अथवा हेय धर्म से उपादेय धर्म को जो प्राप्त हों।

आवली–असंख्यात समय समूह की एक आवली होती है।

आस्रव–जीव के द्वारा प्रति समय मन-वचन और काया से जो शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है, वह भावास्रव है। तत्‌निमित्तक विशेष प्रकार की पुद्‌गल वर्गणाएं आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करती हैं, वह द्रव्यास्रव है।

आहारक शरीर–सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिये या संशय को दूर करने के लिये प्रमत्तसंयत मुनि जिस शरीर की रचना करता है, वह शरीर। यह एक हाथ ऊंचा व हंस के समान धवल वर्णवाला व सर्वांग-सुन्दर और कई लाख योजन तक अप्रतिहत गमन करने में समर्थ है। और उत्तमांग

अर्थात् मस्तक से उत्पन्न होने वाला है। यह समचतुरस्र संस्थान वाला, रस रुधिरादि सप्त धातुओं से रहित होता है।

इतरेतराभाव–स्वरूपान्तर से स्वरूप की व्यावृत्ति इतरेतराभाव है।

इन्द्र–अन्य देवों में नहीं पाई जाने वाली असाधारण अणिमा-महिमादि ऋद्धियों का धारक देवाधिपति इन्द्र है।

इन्द्रभूति–पूर्वभव में आदित्य विमान में देव थे। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण और वेदपाठी थे। भगवान महावीर के समवसरण में आत्मा के अस्तित्व पर चर्चा करते हुए मान भंग हो गया और अपने ५०० शिष्यों सहित दीक्षा धारण करली। तभी सात ऋद्धियां प्राप्त हो गईं थीं। भगवान महावीर के प्रथम गणधर थे। आपको बैशाख शुक्ला ११ के पूर्वाह्नकाल में श्रुतज्ञान जागृत हुआ। उसी तिथि की पूर्व रात्रि में आपने अंगों की रचना करके सारे श्रुत को आगम निबद्ध कर दिया। कार्तिक शुक्ला १ को आपको केवलज्ञान प्रकट हुआ और विपुलाचल पर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए।

इन्द्रिय–परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र कहते हैं, इस इन्द्र के लिङ्ग या चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो जीव की अर्थोपलब्धि में निमित्त होती है उसे इन्द्रिय कहते हैं। ये इन्द्रियां श्रोत्रादि पांच हैं।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य–सत् यद्यपि त्रिकाल नित्य है परन्तु निरन्तर परिणमन होते रहने के कारण उसमें सतत नवीन अवस्था का उत्पाद तथा पूर्व अवस्था का विनाश होता रहता है। अतः पदार्थ नित्य होते हुए भी कथंचित् अनित्य है और अनित्य होते हुए भी कथंचित् नित्य है। वस्तु में ही नहीं, उसके प्रत्येक गुण में भी यह स्वाभाविक व्यवस्था निराबाध है।

उत्सर्पिणी–जिस काल में बल, बुद्धि, आयु आदि की क्रमशः वृद्धि होती रहती है, वह काल। यह दस कोटा-कोटी सागरोपम का होता है।

उद्योतनाम–जिसके निमित्त से शरीर में उद्योत होता है। उष्णता रहित प्रभा को उद्योत कहते हैं। यह चन्द्रबिम्ब और जुगनू आदि में होता है।

उपमान–प्रसिद्ध अर्थ की समानता के आधार पर अप्रसिद्ध को जानना उपमान है। जैसे "गो की भांति गवय होता है" इस आधार पर "गवय" को समझना।

उपयोग–चेतना का नाम उपयोग है। चेतना सामान्य गुण है और ज्ञान-दर्शन ये दो उसकी अवस्थाएं हैं। इन्हीं को उपयोग कहते हैं। शुभ और

अशुभ उपयोग संसार का कारण होने से परमार्थतः हेय है। और शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण होने से सर्वथा उपादेय है।

उपशम–कर्मों के उदय को कुछ समय के लिये रोक देना। उतने समय तक जीव के परिणाम अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं परन्तु अवधि पूरी होने पर नियम से पुनः वह कर्म उदय में आ जाते हैं और जीव के परिणाम पुनः गिर जाते हैं। उपशम-करण का सम्बन्ध केवल मोहकर्म व तज्जन्य परिणामों से ही है, ज्ञानादि अन्य भावों से नहीं, क्योंकि रागादि विकारों में क्षणिक उतार-चढ़ाव सम्भव है। कर्मों के दबने को उपशम और उससे उत्पन्न जीव के शुद्ध परिणामों को औपशमिक भाव कहते हैं।

उपादान–जो कारण स्वयं कार्य रूप में परिणत होता है, उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे–मिट्टी घड़े का उपादान कारण है अथवा दूध, दही का उपादान कारण है।

ऊर्ध्वलोक–मध्यलोक के ऊपर जो खड़े मृदंग के आकारवत् लोक है वह ऊर्ध्वलोक है। सुमेरु पर्वत की चूलिका से ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है।

ऋजुसूत्रनय–त्रिकालवर्ती वस्तु को छोड़कर जो केवल वर्तमान कालभावी पर्याय को ही वस्तु मानता है उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। अतीत पदार्थों के नष्ट हो जाने से तथा अनागत पदार्थों के उत्पन्न न होने से ये दोनों ही व्यवहार के अयोग्य हैं अतः यह नय वर्तमान एक समय मात्र में विद्यमान पर्याय को विषय करता है।

एवम्भूतनय–जो द्रव्य जिस प्रकार की क्रिया से परिणत हो उसका उसी प्रकार से निश्चय करना। जैसे किसी व्यक्ति के लिये राजा या नृप शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा, जबकि उसमें शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ भी घटित हो रहा हो।

औदारिक शरीर–उदार का अर्थ स्थूल है जिसका प्रयोजन उदार या स्थूल है वह औदारिक शरीर कहलाता है अथवा स्थूल द्रव्यों से जो शरीर निर्मित होता है वह औदारिक है। औदारिक शरीर तिर्यञ्च और मनुष्यों का होता है।

कर्म–कर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा–कर्म कारक, क्रिया तथा जीव के साथ बंधने वाले विशेष जाति के पुद्गल स्कन्ध। कर्म कारक जगत्प्रसिद्ध है परन्तु कर्म अप्रसिद्ध है। केवल जैन सिद्धान्त ही उसका विशेष प्रकार से

निरूपण करता है। जीव मन-वचन-काय के द्वारा जो कुछ करता है वह क्रिया या कर्म है। इस भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म पुद्‌गल स्कन्ध आत्म-प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं, और उसके साथ बंधते हैं। ये सूक्ष्म स्कन्ध द्रव्यकर्म कहलाते हैं। अथवा जो जीव को परतन्त्र करते हैं या जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं–उपार्जित किये जाते हैं, वे कर्म हैं। कर्म ज्ञानावरणीयादि के भेद से आठ प्रकार के हैं।

कषाय–जो क्रोधादिक जीव के सुख-दुःख रूप बहुत प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्मरूप खेत का कर्षण करते हैं, वह कषाय हैं। अथवा आत्मा के भीतरी कलुष परिणामों को कषाय कहते हैं। यद्यपि क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार कषाय ही प्रसिद्ध हैं। पर इनके अतिरिक्त भी अनेकों प्रकार की कषायों का निर्देश आगमों में मिलता है। हास्य, रति, अरति आदि नव नोकषाय कही जाती हैं, क्योंकि वे कषायवत् व्यक्त नहीं होतीं। इन सबको ही राग-द्वेष में गर्भित किया जा सकता है। आत्मा के स्वरूप का घात करने के कारण कषाय ही वस्तुतः हिंसा है।

एक दूसरी दृष्टि से भी कषायों का निर्देश मिलता है। वह चार प्रकार का है–अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन। ये भेद विषयों के प्रति आसक्ति की अपेक्षा से हैं। और क्योंकि वह आसक्ति भी क्रोधादि द्वारा ही व्यक्त होती है, अतः इन चारों के क्रोधादि के भेद से चार-चार भेद करके कुल १६ भेद कर दिये हैं। वहां क्रोधादि की तीव्रता-मंदता से इनका सम्बन्ध नहीं है बल्कि आसक्ति की तीव्रता-मंदता से है। हो सकता है किसी व्यक्ति में क्रोधादि की तो मंदता हो और आसक्ति की तीव्रता या क्रोधादि की तीव्रता हो और आसक्ति की मन्दता। अतः क्रोधादि की तीव्रता-मन्दता को लेश्या द्वारा निर्दिष्ट किया है और आसक्ति की तीव्रता-मंदता को अनन्तानुबंधी आदि द्वारा। (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग २)

कार्मण शरीर–ज्ञानावरणादि अष्टविधकर्मस्कन्ध जो सब कर्मों का प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक व सुख-दुःख का बीज है, वह कार्मण शरीर है। कार्मण शरीर चारों गति के जीवों को होता है।

केवलज्ञान–जीवन्मुक्त योगियों का एक निर्विकल्प, अतीन्द्रिय अतिशय ज्ञान जो अन्य की अपेक्षा से रहित, विशुद्ध, सर्वकाल व क्षेत्र सम्बन्धी सर्व पदार्थों को हस्तामलकवत् जानता है।

गण–स्थविरों की संतति को गण कहते हैं–या तीन पुरुषों का समुदाय गण है।

गणधर–जो अनुपम ज्ञान–दर्शनादि रूप धर्म गण को धारण करता है। गणधर चारों बुद्धियों के धारक, अनेकविध लब्धियों से युक्त होते हैं। भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे–इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्तभूति, सुधर्मा, मण्डीपुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल, मेतार्य और प्रभास।

गुण–जो द्रव्य के आश्रित हैं और द्रव्य को द्रव्यान्तर से भिन्न करते हैं तथा स्वयं गुण रहित हैं, वह गुण हैं।

गुणस्थान–मोह और मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में होने वाले उतार-चढ़ाव को गुणस्थान कहते हैं। परिणाम यद्यपि अनन्त हैं। परन्तु उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा उससे ऊपर जघन्य वीतराग परिणाम से लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणाम तक की अनन्तों वृद्धियों के क्रम को वक्तव्य बनाने के लिये उनको चौदह श्रेणियों में विभाजित किया गया है। वे चौदह गुणस्थान या जीवस्थान कहलाते हैं।

गुप्ति–जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है। अथवा मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध गुप्ति है।

घातिकर्म–जो आत्मा के मूलगुणों की घात करते हैं वे घातिकर्म हैं। घातिकर्म चार हैं–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। ये क्रमशः ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व चारित्र तथा वीर्य गुण की घात करते हैं।

चक्रवर्ती–षट्खण्ड भरतक्षेत्र के अधिपति बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के स्वामी चक्रवर्ती होते हैं।

चारित्र–शुभ कर्म में प्रवृत्ति और अशुभ कर्म से निवृत्ति होना। अथवा स्वरूप में चरण करना–रमण करना चारित्र है। अथवा जीव की अन्तरंग विरागता या साम्यता निश्चय चारित्र है और उसके लिये बाह्य क्रिया कलाप, व्रत, समिति, गुप्ति आदि का पालन व्यवहार चारित्र है।

चेतना–जिस शक्ति से आत्मा ज्ञाता द्रष्टा अथवा कर्त्ता भोक्ता होता है, वह चेतना है। चेतना, अनुभूति, उपलब्धि, वेदना ये सब एकार्थक हैं।

छद्मस्थ–छद्म अर्थात् आवरण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्म-आवरणों में जो रहता है, वह छद्मस्थ है।

जम्बूद्वीप–मनुष्य लोक के ठीक मध्य में एक लक्ष योजन विस्तार वाला गोल जम्बूद्वीप है। उत्तरकुरु क्षेत्र में अनादि निधन पृथिवीमयी अकृत्रिम परिवार वृक्षों से युक्त जम्बूवृक्ष है। उससे उपलक्षित होने से उसका जम्बूद्वीप यह सार्थक नाम है।

जीव–संसार या मोक्ष दोनों में जीव प्रधान तत्त्व है। यद्यपि ज्ञान-दर्शन स्वभावी होने के कारण वह आत्मा ही है तथापि संसारी दशा में प्राण धारण करने से जीव कहलाता है। वह अनन्तगुणों का स्वामी एक, प्रकाशात्मक, अमूर्तिक सत्ताधारी पदार्थ है। वह कल्पना मात्र नहीं है, न ही पंचभूतों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाला कोई संयोगी पदार्थ ही है। संसारी दशा में, शरीर में रहते हुए भी शरीर से पृथक्, लौकिक विषयों को करता व भोगता होते हुए भी वह उनका केवल ज्ञाता है। वह यद्यपि लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है परन्तु संकोच विस्तार शक्ति के कारण शरीर प्रमाण होकर रहता है। कोई एक ही सर्वव्यापक जीव हो, ऐसा जैन दर्शन नहीं मानता। जीव अनन्तानन्त हैं। उनमें से जो भी साधना विशेष के द्वारा कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर देता है, वह सदा अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता परमात्मा बन जाता है।

तत्त्व–जिस वस्तु का जो भाव है, वह तत्त्व है। अथवा वस्तु के असाधारण रूप स्वतत्त्व को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व नौ हैं–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। दार्शनिक ग्रन्थों में पुण्य-पाप को पृथक् तत्त्व नहीं गिनाया है, उन्होंने आस्रव तत्त्व में ही पुण्य और पाप का समावेश कर दिया है। पर आगम-ग्रन्थों में पुण्य और पाप को मिलाकर नव तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

तिर्यञ्च–"**तिरो अचंतीति तिर्यञ्चः**" जो तिरछे चलते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग यहाँ तक पृथ्वी, पानी, अग्नि, निगोद के जीव भी तिर्यञ्च कहलाते हैं। इनमें कुछ जलवासी, कुछ स्थलवासी, कुछ आकाश में गमन करने वाले हैं। तिर्यञ्चों का निवास मध्यलोक के सभी असंख्यात द्वीप समुद्रों में है। इतना विशेष है, कि अढाई द्वीप से आगे के सभी समुद्रों में जल के अतिरिक्त अन्य कोई जीव नहीं पाये जाते। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय नहीं होते। अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र में संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पाये जाते हैं अतः यह सारा मध्य लोक तिर्यक् लोक कहलाता है।

तीर्थङ्कर–महापरिनिर्वाण सूत्र, महावग्ग दिव्यावदान आदि बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार महात्मा बुद्ध के समकालीन छह तीर्थङ्कर थे–१. भगवान महावीर, २. महात्मा बुद्ध, ३. मस्करी गोशाल, ४. पूरण काश्यप, ५. अजित केशकम्बली, ६. पकुध कात्यायन।

संसार सागर को स्वयं पार करने तथा दूसरों को पार कराने वाले महापुरुष तीर्थङ्कर कहलाते हैं। प्रत्येक कल्प में २४ तीर्थङ्कर होते हैं। उनके गर्भावतरण, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञानोत्पत्ति व निर्वाण–इन पांच अवसरों पर महान् उत्सव होते हैं, जिन्हें पंचकल्याण कहते हैं। तीर्थङ्कर बनने के संस्कार षोडश या बीस अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, उसे तीर्थङ्कर प्रकृति का बंधना कहते हैं। ऐसे परिणाम केवल मनुष्यभव में और वहां भी किसी तीर्थङ्कर या केवली के पादमूल में ही होने सम्भव हैं। ऐसे जीव प्रायः देवगति में ही जाते हैं। फिर भी यदि पहले से नरकायु का बंध हुआ हो और बाद में तीर्थङ्कर प्रकृति बंधे तो वह जीव केवल तृतीय नरक तक ही उत्पन्न होता है। उससे अनन्तर भव में अवश्य मुक्ति को प्राप्त करता है। तीर्थंकर को गृहस्थावस्था में भी अवधिज्ञान होता है। ये चौंतीश अतिशय व पैंतीस वाणी के गुणों के धारक होते हैं। (देखिए जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा. २)

तीर्थ–संसार समुद्र से दुःखी प्राणियों को पार उतारने वाले श्रेष्ठ मार्ग को तीर्थ कहते हैं। साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चातुर्वर्ण रूप संघ को भी तीर्थ कहते हैं। यह तीर्थ ऋषभादि तेईस तीर्थङ्करों के तो प्रथम समवसरण में ही उत्पन्न हुआ, किन्तु भगवान महावीर के द्वितीय समवसरण में तीर्थ की स्थापना हुई। चातुर्वर्ण श्रमण संघ को अथवा गणधर को तीर्थ माना जाता है।

तैजस शरीर–जो शरीर तेज-शरीर स्कन्ध का पद्मरांग मणि जैसा वर्ण और प्रभा-शरीर से निकलने वाली कांति आदि गुण युक्त होता है उसे तैजस कहा जाता है अथवा समस्त प्राणियों के आहार का पाचक जो उष्णता रूप तेज है उसके विकास को तैजस शरीर कहते हैं। यह शरीर सर्व संसारी जीवों के होता है।

दर्शन–आत्म विषयक उपयोग दर्शन कहलाता है। अथवा द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत सामान्य वस्तु का ग्रहण दर्शन है, अथवा आप्त, आगम और पदार्थों में जो रुचि, प्रत्यय या श्रद्धा होती है, उसे दर्शन कहते हैं।

देव–आभ्यन्तर कारण देवगति नाम कर्म का उदय होने पर नाना प्रकार की बाह्य विभूति से जो युक्त हैं और जिनका प्रकाशमान दिव्य शरीर है, वे देव कहलाते हैं।

दोष–स्व-पर-परिणाम जनित अज्ञान आदि दोष हैं।

द्रव्य–जो अपने मूल स्वभाव को न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सम्बद्ध रहकर गुण और पर्याय से सहित होता है, वह द्रव्य है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छह मूल द्रव्य हैं।

धर्म–जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख में धारण करे, वह धर्म है। अथवा निज शुद्धात्मा में रमण ही धर्म है।

धर्म-अधर्म द्रव्य–ये दोनों द्रव्य लोकाकाश प्रमाण व्यापक, असंख्यात प्रदेशी, अमूर्त द्रव्य हैं। ये जीव व पुद्गल की गति और स्थिति में उदासीन रूप से सहकारी हैं, यही कारण है कि जीव व पुद्गल स्वयं समर्थ होते हुए भी इनकी सीमा से बाहर नहीं जा सकते। जैसे मछली चलने में स्वयं समर्थ होते हुए भी जल से बाहर नहीं जा सकती। इसी प्रकार इन दोनों द्रव्यों के कारण ही एक अखण्ड आकाश, लोकाकाश और अलोकाकाश रूप दो विभागों में विभक्त हो गया है।

ध्यान–उत्तम संहनन वाले का एक विषय में–एक अग्र में–अनियमित भोजन-गमनादि रूप अनेक क्रियाओं में से किसी एक ही क्रिया के कर्त्ता रूप में चित्तवृत्ति का निरोध होना ध्यान है। यह अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रह सकता है, इससे अधिक नहीं। इस ध्यान के लक्षण में जो "एकाग्र" का ग्रहण है वह व्यग्रता की निवृत्ति के लिए है। ज्ञान ही वस्तुतः व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यान को तो एकाग्र कहा जाता है। ध्यान के चार विकल्प हैं–आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। कितने ही आचार्यों ने ध्यान के तीन ही भेद माने हैं क्योंकि जीव का आशय तीन प्रकार ही होता है। उन तीनों में प्रथम पुण्य रूप शुभ आशय है, द्वितीय उसका विपक्षी पाप रूप आशय और तृतीय शुद्धोपयोग आशय।

ध्रुवबन्धप्रकृति–जिस कर्म प्रकृति का प्रत्यय, जिस किसी भी जीव में अनादि व ध्रुव रूप से पाया जाता है, वह ध्रुवबन्धी प्रकृति है। ध्रुवबन्धी प्रकृति का जब तक उसका कारण विद्यमान रहे तब तक निरन्तर बन्ध होता रहता है।

नय–प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के एक अंश या एक धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है। अथवा जीवादि पदार्थों को जो लाते हैं, प्राप्त कराते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रगट कराते हैं, वे नय हैं। नय के दो भेद हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, अथवा निश्चय और व्यवहार। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत–इस प्रकार सात नय भी हैं। और नय अनन्त भी हो सकते हैं क्योंकि वक्ता के अभिप्राय अनन्त होते हैं।

नर–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का नयन करने वाले "नर" कहे जाते हैं।

नरक और नारक जीव–प्रचुर रूप से पाप कर्मों के फलस्वरूप अनेकों प्रकार से असह्य दुःखों को भोगने वाले जीवविशेष नारक कहलाते हैं। उनकी गति या उनके रहने का स्थान शीत, उष्ण, दुर्गंध आदि असंख्य दुःखों की तीव्रता का केन्द्र होता है। वहां जीव बिलों अथवा कुंभियों (सुरंगों) में उत्पन्न होते हैं और रहते हैं। क्षेत्रकृत, असुरकुमार देवकृत, शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार की वेदनाएं होती हैं। नारक निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं। छठी नरक तक के नारकियों के त्रिशूल, चक्र, तलवार, मुद्गर, परशु आदि अनेक आयुध रूप विक्रिया होती है। सप्तम नरक में गाय बराबर कीड़े, लोहू, चींटी आदि रूप से एकत्व विक्रिया होती है। ये दाढ़ी, मूंछ से रहित होते हैं। आयु पूर्ण होने पर नारकियों के शरीर वायु से ताड़ित मेघों के समान निःशेष–विलीन हो जाते हैं।

नास्तिक–देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा नहीं करने वाला, आत्मा-परमात्मा पर विश्वास नहीं करने वाला, परलोक की मान्यता से रहित जीव नास्तिक है।

निगोद–एक शरीर का आश्रय करके अनन्त जीव जिसमें रहें, अर्थात् एक ही शरीर को आश्रित कर जिन जीवों के आहार, आयु, श्वासोच्छ्वास आदि समान हों, उन्हें निगोद कहते हैं। जैसे–कंद-मूल, आलू, गाजर, अदरक, रतालु, लहसुन, प्याज आदि।

निमित्तकारण–जो कारण कार्य के होने में सहायक हो और कार्य समाप्ति पर पृथक् हो जाय, जैसे–घड़े के बनने में चाक, दण्ड, कुम्हार आदि निमित्त हैं।

निक्षेप–नामादिकों में वस्तु का न्यास करना, रखना निक्षेप है। अथवा नामादि से वस्तु में भेद करने के उपाय को निक्षेप कहते हैं। निक्षेप विषय है और नय विषयी है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से निक्षेप चार प्रकार का है।

नियतिवाद–जो कार्य या पर्याय जिस निमित्त के द्वारा जिस द्रव्य में, जिस क्षेत्र में व काल में जिस प्रकार से होना होता है, वह कार्य उसी निमित्त के द्वारा उसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव में उसी प्रकार से होता है, ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावरूप चतुष्टय से समुदित नियत कार्य व्यवस्था का प्रतिपादन नियतिवाद है। होनहार या भवितव्यतावाद भी इसे कहते हैं।

निर्जरा–पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय निर्जरा है। यह दो प्रकार की है–सविपाक और अविपाक। यथासमय स्वयं कर्मों का उदय में आ–आकर झड़ते रहना सविपाक तथा तपादि अनुष्ठानों द्वारा समय से पूर्व झड़ना अविपाक निर्जरा है। मूल कर्म प्रकृतियों की दृष्टि से निर्जरा आठ प्रकार की भी है। और कर्मों के रस को क्षीण करने के विभिन्न प्रकारों की अपेक्षा इसके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा से भी निर्जरा के दो भेद हैं। कर्म शक्ति के निर्मूलन में समर्थ जीव का उपयोग भाव निर्जरा है और उस शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से नीरसीभूत पूर्वोपार्जित कर्मपुद्‌गलों का एकदेश क्षय होना द्रव्यनिर्जरा है।

निर्माण नामकर्म–जिस कर्म के निमित्त से शरीर के अंगोपांगों की रचना होती है।

निर्वाण–परतन्त्रता की निवृत्ति अथवा शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि निर्वाण है।

निरुपक्रम–सोपक्रम आयु–जो आयु पूरी यथाकाल भोगे बिना ही अकाल में टूट जाय, वह सोपक्रम और जो आयु बंध के अनुसार पूरी भोगी जाय, बीच में नहीं टूटे, वह निरुपक्रम आयु है, जैसे–तीर्थङ्कर, देव, नारक आदि की आयु।

नैगमनय–"नैकोगमो" अर्थात् द्वैतग्राही हो अर्थात् जो मुख्य गौण रूप से दो धर्मों को, दो धर्मियों को अथवा धर्म व धर्मी दोनों को विषय करता है, वह नैगमनय है।

परघात नाम कर्म–पर, अन्य जीवों के घात को परघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में पर को घात करने के कारणभूत पुद्‌गल निष्पन्न

होते हैं, वह परघात नामकर्म है जैसे–सांप की दाढ़ों में विष, बिच्छू की पूंछ में। परदु:ख के कारणभूत पुद्गलों का संचय, सिंह, व्याघ्र आदि में तीक्ष्ण नख और दन्त तथा धतूरा आदि विषैले वृक्ष परदु:ख उत्पन्न करने वाले हैं।

परमाणु–पुद्गल द्रव्य के छोटे से छोटे अविभाज्य अंश को परमाणु कहते हैं, जो स्कन्ध से पृथक् और तीक्ष्ण शस्त्रों से भी छेदा-भेदा न जा सके, जल व अग्नि के द्वारा नाश को प्राप्त न हो। यह चतु:स्पर्शी है। वह निरवयव है, आदि मध्य और अन्त से रहित होता है।

परलोक–व्यवहार नय से अन्य भव में जीव के गमन को परलोक कहते हैं। अथवा पर अर्थात् उत्कृष्ट चिदानन्द शुद्ध स्वभाव आत्मा, उसका लोक–अवलोकन निश्चय दृष्टि से परलोक है।

परस्पराश्रय दोष–परस्पर में एक-दूसरे के ऊपर आश्रित रहना। जैसे–खटके के ताले की चाबी अलमारी में रह गयी और बाहर से ताला बन्द हो गया। तब चाबी निकले तो ताला खुले और ताला खुले तो चाबी निकले। अथवा सर्वज्ञता सिद्ध हो तो आगम की सिद्धि हो और आगम सिद्ध हो तो सर्वज्ञता सिद्ध हो।

परिग्रह–मूर्च्छा भाव परिग्रह है। अथवा बाह्य पदार्थ के ग्रहण में कारणभूत परिणाम परिग्रह है। अथवा "यह मेरा है" इस प्रकार का संकल्प ही परिग्रह है।

परिणाम–अध्यवसाय विशेष का नाम परिणाम है। अथवा द्रव्य का अपनी द्रव्यत्व जाति को नहीं छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है, उसे परिणाम कहते हैं।

परीषह–मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिये जो सहन करने योग्य हों, वे परीषह हैं। अथवा दु:ख आने पर भी संक्लेश परिणामों का न होना, परीषहजय है। परीषह के २२ भेद हैं।

परोक्ष–अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। अथवा आत्मा से पर–इन्द्रिय, मन आदि के निमित्त से जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह परोक्ष है।

पर्याय–जो स्वभाव विभाव रूप से गमन्न करती है–**पर्येति** अर्थात् परिणमन करती है, वह पर्याय है। पर्याय का वास्तविक-अर्थ वस्तु का अंश है। अन्वयी और व्यतिरेकी भेद से पर्याय दो प्रकार की है। अन्वयी को गुण

और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं। इन ध्रुव व क्षणिक दोनों अंशों से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप वस्तु की सिद्धि होती है।

पाप–अशुभ प्रवृत्ति। जो आत्मा को शुभ से गिराता है–उत्तम कार्य में प्रवृत्त नहीं होने देता, वह पाप है।

पारिणामिक भाव–कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखनेवाले जीव-अजीव गत जो भाव हैं वह पारिणामिक भाव। भले ही अन्य पदार्थों के संयोग की उपाधिवश द्रव्य अशुद्ध प्रतिभासित होता है, पर अपने स्व-स्वभाव से सर्वथा च्युत नहीं होता। अन्यथा जीव, घट बन जाय और घटादि जीव।

पुण्य–जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है, वह भाव पुण्य है। और भावपुण्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाले सातावेदनीयादि शुभ प्रकृति रूप पुद्‌गलपरमाणुओं का पिण्ड द्रव्यपुण्य है।

पुद्‌गल–जो एक दूसरे के साथ मिलता-बिछुड़ता रहे, ऐसे पूरण-गलन स्वभावी मूर्तिक जड़ पदार्थ को पुद्‌गल कहते हैं। मूलभूत पदार्थ तो अविभागी परमाणु ही है। परमाणुओं के परस्पर बन्ध से ही जगत् के चित्र-विचित्र पदार्थों का निर्माण होता है, जो स्कन्ध कहे जाते हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण–ये पुद्‌गल के प्रसिद्ध गुण हैं।

पृथ्वीकायिक–जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से युक्त होते हुए पृथिवी को शरीर रूप से ग्रहण किये हुए हैं, वे पृथिवीकायिक कहलाते हैं।

प्रत्याख्यान–प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। **प्रवृत्ति प्रतिकूलतया आ मर्यादयाख्यान प्रत्याख्यानं**–(योगशास्त्र वृत्ति) द्रव्य से अशन, पान आदि का त्याग करना और भाव से मिथ्यात्व, अव्रत आदि का त्याग करना द्रव्यप्रत्याख्यान व भाव प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यानावरण–जिस कर्म अर्थात् महाव्रतावरणकर्म के उदय से जीव परिपूर्ण विरति को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हो, उस सकल प्रत्याख्यान को आवृत करने वाले क्रोध-मान-माया और लोभ रूप कषायमोहनीय के भेद को प्रत्याख्यानावरण कहा है।

प्रदेश–आकाश के छोटे से छोटे अविभागी अंश का नाम प्रदेश (Space Point) है। एक परमाणु जितने आकाश में रहता है, उतने आकाश

को "आकाश प्रदेश" कहते हैं। और वह अनन्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है। अथवा स्कन्ध या देश से मिले हुए द्रव्य के अति सूक्ष्म (जिसका दूसरा हिस्सा न हो सके) विभाग को प्रदेश कहते हैं।[३३]

प्रध्वंसाभाव—कार्य के नाश होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाले अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। जैसे—घट का नाश होने पर उत्पन्न होने वाले कपाल (टीकरा) घट का प्रध्वंसाभाव हैं।

प्रभास—ये राजगृह के निवासी कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। सोलह वर्ष की अवस्था में आपने ३०० शिष्यों के साथ श्रमण धर्म स्वीकार किया। आठ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे और १६ वर्ष तक केवली अवस्था में। भगवान महावीर के सर्वज्ञ जीवन के पच्चीसवें वर्ष में राजगृह में मासिक अनशन पूर्वक ४० वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए। ये भगवान के अंतिम गणधर थे।

प्रमाण—जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है, वह प्रमाण है। प्रमाण ज्ञान वस्तु को सब दृष्टिबिन्दुओं से जानता है अर्थात् वस्तु के सर्वांशों को विषय करने वाला यथार्थ ज्ञान प्रमाण है।

प्रमाता—जो वस्तु को पाने या छोड़ने की इच्छा करता है, वह प्रमाता अर्थात् आत्मा-ज्ञाता है।

प्रमाद—संज्वलन कषाय और नव नोकषाय इन तेरह के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है।[३४] शुभ उपयोग के अभाव को या शुभकार्यों में अनुद्यमपन को प्रमाद कहते हैं।

प्राग्भाव—कार्य के पहले का अभाव अर्थात् वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव, प्राग्भाव है। जैसे—मिट्टी का पिण्ड घट का प्राग्भाव है।

प्रायश्चित्त—संचित पाप का छेदन करना प्रायश्चित्त है अथवा अपराध मलीन चित्त को शुद्ध करने वाला जो कृत्य है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त आलोचना आदि के भेद से नव प्रकार का है।

बंध—कर्म प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है। क्रोधादि परिणाम भावबंध है। और कषाय सहित होने से जीव कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करके आत्म प्रदेशों के साथ एकमेक कर देता है, वह द्रव्यबंध है।

बहुश्रुत–जो अंगों के पारगामी हैं, वे बहुश्रुत कहे जाते हैं।

ब्रह्मचर्य–ब्रह्म शब्द का अर्थ आत्मा है। उस आत्मा में विचरण करना–लीन होना ब्रह्मचर्य है। परन्तु स्त्री के त्याग रूप ब्रह्मचर्य की भी लोक व परमार्थ दोनों क्षेत्रों में बहुत महत्ता है। वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत रूप से भी ग्रहण किया जाता है और महाव्रत रूप से भी।

ब्राह्मण–तप, शास्त्रज्ञान और जाति इन तीन से युक्त को ब्राह्मण कहते हैं। जन्म दो प्रकार का होता है–गर्भ से और संस्कारों से। गर्भ से जन्म लेकर पुनः संस्कार को उत्पन्न करे वह द्विज दो बार जन्मा है। यथार्थतः ब्राह्मण वह है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

भव्य–जिसमें सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी भव्य जीव अवश्य मुक्त होंगे। यदि जीव सम्यक् पुरुषार्थ करे तो नियम से संख्यात, असंख्यात या अनंतकाल में अवश्य मोक्ष को प्राप्त करते हैं, अन्यथा नहीं। पर अनेक भव्य ऐसे हैं, जो कभी भी अनुरूप पुरुषार्थ नहीं करेंगे। इसके विपरीत जीव कभी भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो जीव सिद्ध पद की प्राप्ति के योग्य हैं उन्हें भवसिद्ध कहते हैं। और उनसे विपरीत जो जीव संसार से छूटकर मोक्ष प्राप्त नहीं करते, नहीं करेंगे, वे अभव्य हैं।

भाषा–साधारण बोलचाल को भाषा कहते हैं। मनुष्यों की भाषा साक्षरी तथा पशु-पक्षियों की निरक्षरी होती है। आमंत्रणी, निमंत्रणी आदि के भेद से भी उसके अनेक भेद हैं।

भिक्षा–साम्यरस से ओत-प्रोत साधुजन लाभ-अलाभ में समता रखते हुए दिन में यथाकाल दाता से भ्रमर के समान थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करते हैं, पर याचना रूप दीन व हीन वृत्ति जाग्रत नहीं होने देते। इस प्रकार मात्र संयमादि षट् कारणों से यथालब्ध आहार का ग्रहण भिक्षा है।

मण्डिक–मण्डिक मौर्यसन्निवेश के रहने वाले वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता धनदेव और माता विजयादेवी थी। इन्होंने ३५० शिष्यों के साथ त्रेपन वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ली। ६७ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान और ८३ वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया। ये भगवान के छठे गणधर थे।

मन:पर्यवज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक जो ज्ञान संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता है वह मन:पर्यवज्ञान है।

मन–मन एक आभ्यन्तर इन्द्रिय है। मनोवर्गणा के पुद्‌गल द्रव्य मन है। चक्षु आदि इन्द्रियों के समान अपने विषय में निमित्त होने पर भी अप्रत्यक्ष व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसे इन्द्रिय न कहकर अनिन्द्रिय ईषत् इन्द्रिय कहा जाता है। संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा विचार चिन्तवन आदि रूप ज्ञान की अवस्थाविशेष भावमन है।

मनुष्य–मन के द्वारा हेय-उपादेय का विवेक, तत्त्व-अतत्त्व आदि का विचार करने में निपुण और उत्कृष्ट मन के धारक जीव मनुष्य हैं। मोक्ष का द्वार होने से मनुष्य गति सर्वोत्तम मानी गई है। मध्यलोक के बीच में ४५,००,००० योजन प्रमाण अढाई द्वीप तक, मानुषोत्तर पर्वत से पहले मनुष्य क्षेत्र है और ऊपर सुमेरु पर्वत के शिखर पर्यन्त इस क्षेत्र की सीमा है।

महावीर–जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर। विशेष परिचय के लिए लेखक का 'भ. महावीर : एक अनुशीलन' ग्रन्थ देखें।

मिथ्यादर्शन–जीवादि पदार्थों पर यथार्थ श्रद्धान न करना, मिथ्यादर्शन है।

मिथ्यादृष्टि–आत्म ज्ञान से शून्य बाह्य जगत् में ही अपना समस्त पुरुषार्थ उंड़ेलकर जीवन विनष्ट करने वाले सर्व लौकिक जन मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मदृष्टि या परसमय कहलाते हैं।

मिश्रमोहनीय–जिस कर्म के उदय से जीव की मिश्ररुचि हो अर्थात् न पूर्णरूपेण तत्त्वश्रद्धा हो और न ही पूर्णरूप से अतत्त्वश्रद्धा हो, उसे मिश्रमोहनीय कहते हैं।

मुहूर्त–३७७३ उच्छ्‌वासों का एक मुहूर्त कहा जाता है अथवा ५११० निमेष का एक मुहूर्त होता है।

मूर्त–केवल आकारवान् को ही नहीं बल्कि इन्द्रियग्राही पदार्थ को मूर्त्त कहते हैं। षट्द्रव्यों में एक पुद्‌गल द्रव्य ही मूर्त्त है। यद्यपि सूक्ष्म स्कन्ध रूप वर्गणाएं और परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है, तथापि उनका कार्य जो स्थूल स्कन्ध है वह इन्द्रियग्राह्य है।

मेतार्य–ये वत्सदेशान्तर्गत तुंगिका सन्निवेश के निवासी कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम दन्त व माता का नाम वरुण देवी था। उन्होंने तीन सौ छात्रों के साथ ३६ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। १० वर्ष छद्मस्थ रहे और १६ वर्ष केवली अवस्था में। भगवान महावीर निर्वाण के चार वर्ष पूर्व बासठ (६२) वर्ष की अवस्था में राजगृह के गुणशील चैत्य में उनका निर्वाण हुआ।

मोक्ष–बन्धहेतुओं (मिथ्यात्व, कषाय आदि) के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। जैन दर्शन आत्म प्रदेशों की सर्वव्यापकता स्वीकार नहीं करता, न ही मोक्ष में आत्मा को निर्गुण व शून्य स्वीकार करता है। उसके स्वभावभूत अनन्तज्ञान आदि आठ गुण हैं। कितने ही दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों की मान्यता है, कि जितने जीव मुक्त होते हैं उतने ही जीव नित्यनिगोद में से निकलकर इतर निगोद या व्यवहार राशि में आ जाते हैं। इससे लोक जीवों से कभी रिक्त नहीं होता।

मोहनीय कर्म–जीव को मद्य-पान के समान हेय-उपादेय के ज्ञान से रहित बनाने वाला संसार परिभ्रमण का मूल कारण कर्म मोहनीय कहलाता है। इसके मूल दो भेद हैं–दर्शनमोह और चारित्रमोह। इनके अवान्तर भेद २८ हो जाते हैं। क्रोध, मान माया, लोभ आदि चारित्रमोह के ही उत्तर भेद हैं।

मौर्यपुत्र–ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता मौर्य और माता विजयादेवी थीं। मौर्यसन्निवेश के निवासी थे। ३५० छात्रों के साथ ५३ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली, ७९ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान और भगवान महावीर के अंतिम वर्ष में ८३ वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन पूर्वक राजगृह के गुणशील चैत्य में परिनिवृत्त हुए। ये भगवान के सप्तम गणधर थे।

योग–मन-वचन-काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति योग है। यह एक होती हुई भी मन-वचन-काया रूप निमित्त भेद की अपेक्षा तीन प्रकार की और १५ प्रकार की है। अथवा मन-वचन-काया वर्गणा के निमित्त से आत्म-प्रदेश का परिस्पन्द–हलन-चलन योग है।

पातंजलयोग दर्शन आदि ग्रन्थों में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है, तथा हरिभद्र सूरि और आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रस्तुत परिभाषा को अपने ग्रन्थों में मान्यता दी है। मगर यह योग उपर्युक्त योग से भिन्न है।

राग-द्वेष–इष्ट पदार्थों के प्रति रतिभाव राग है और अनिष्ट पदार्थों के प्रति अरुचिभाव द्वेष है। शुभ व अशुभ के भेद से राग दो प्रकार का है। पर द्वेष अशुभ ही होता है। सम्यग्दृष्टि की निचली भूमिकाओं में ये व्यक्त होते हैं और ऊपर की भूमिकाओं में क्रमशः अव्यक्त।

लेश्या–कषाय से अनुरंजित जीव की मन, वचन, काय की प्रवृत्ति भाव लेश्या है। आगम में इनका कृष्णादि छह भेदों द्वारा निर्देश किया है। शरीर के रंग को द्रव्यलेश्या कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्या हैं। कषाय का उदय छह प्रकार का होता है–तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम। इन छह प्रकार के कषाय के उदय से उत्पन्न हुई परिपाटी क्रम से लेश्या भी छह प्रकार की हो जाती है। कषायानुविद्ध योग प्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं। और इसमें योग की प्रधानता होती है। कहीं-कहीं पर योगप्रवृत्ति को भी लेश्या कहा है, तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव की अपेक्षा से, जहां पर कषाय नहीं पर लेश्या है।

लोक–आकाश के जितने भाग में धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल आदि षट् द्रव्य दिखाई देते हैं वह लोक है अथवा षट् द्रव्यों का समवाय लोक है। यह लोक तालवृक्ष के आकार वाला है। उसके चारों तरफ शेष अनन्त आकाश अलोक है।

विहायोगति **नामकर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव की अशुभ या शुभ चाल हो, वह कर्म अशुभ या शुभ विहायोगति नामकर्म है।

वीतराग–जिनका राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो गया है।

वायुभूति–ये इन्द्रभूति के लघुभ्राता थे। ४२ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की, दस वर्ष छद्मस्थावस्था में रहे। १८ वर्ष केवली पर्याय में रहे। ७० वर्ष की अवस्था में राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के साथ-साथ निर्वाण प्राप्त किया। ये भगवान महावीर के तृतीय गणधर थे।

विरुद्ध हेत्वाभास–साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिस हेतु की व्याप्ति निश्चित हो, वह विरुद्ध हेत्वाभास है। यथा–पुरुष सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य ही है, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान वाला है।

वेदनीय कर्म–जीव के सुख और दुःख का उत्पादक वेदनीय कर्म है। सुख का कारणभूत सातावेदनीय और दुःख का कारणभूत असातावेदनीय है।

व्यक्तभूति–ये कोल्लाग सन्निवेश के निवासी थे, और भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनमित्र और माता का नाम वारुणी था। पचास वर्ष की अवस्था में पांच सौ छात्रों के साथ श्रमण धर्म स्वीकार किया। बारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे और अठारह वर्ष केवली पर्याय पालकर अस्सी वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के साथ राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।

व्याप्ति–अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे–जहां-जहां धूम होता है, वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है। यहां धूम के साथ अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध है।

व्रत–यावज्जीवन हिंसादि पापों की एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति को व्रत कहते हैं। एकदेश त्याग को अणुव्रत और सम्पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं।

शरीर–अनन्तानन्त पुद्गलों का समवाय जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण शीर्णता-जर्जरता को प्राप्त होता है–वह शरीर है। शरीर पांच हैं। उनमें औदारिक शरीर मनुष्य व तिर्यञ्चों के होता है, जो स्थूल व दृष्टिगोचर है। वैक्रिय शरीर देवता व नारक के होता है। तैजस व कार्मण शरीर सर्व संसारी जीवों के होता है। आहारक शरीर चौदह पूर्वपाठी मुनिराज के ही संभव है। शरीर यद्यपि नामकर्म के उदय का फल होने से अपकारी है परन्तु मुमुक्षु जन इसके द्वारा रत्नत्रय की आराधना-साधना कर इसे उपकारी बना लेते हैं।

श्रमण–जो श्रम, शम और सम से युक्त हों, वे साधु श्रमण कहलाते हैं।

श्रावक–जो श्रद्धापूर्वक वीतराग धर्म का श्रवण करता है वह पंचम गुणस्थानवर्ती, विवेकवान्, विरक्तचित्त अणुव्रती गृहस्थ श्रावक कहलाता है।

श्रुतज्ञान–"**श्रूयते इति श्रुतम्**" जिसके द्वारा सुना जाता है जो सुनता है या सुनना मात्र श्रुत है। अथवा श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जो परोक्ष रूप से सब वस्तुओं का अनेकान्त रूप दर्शाता है वह संशय, विपर्यय आदि से रहित ज्ञान श्रुतज्ञान है। यह ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है।

संक्रमण–किसी भी एक कर्म की उत्तर प्रकृति का सजातीय दूसरी उत्तर प्रकृति के रूप में बदलने को संक्रमण कहते हैं।

संज्ञी–विशिष्ट मन के सद्भाव के कारण जिन जीवों में शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति है वे संज्ञी कहलाते हैं।

संज्वलन–संयम के साथ अवस्थान होने से एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं, या जिनके सद्भाव में संयम चमकता है वे संज्वलन क्रोध, मान माया, लोभ हैं।[२५] संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घातक है।

संमूर्च्छन–सं अर्थात् समस्त रूप में जन्म ग्रहण करता हुआ जो जीव स्व उपकारी शरीराकार परिणमने योग्य पुद्गल स्कन्धों को स्वयमेव ग्रहण करता है, वह संमूर्च्छन जन्म है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, कुछ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च व मनुष्य संमूर्छिम होते हैं।

संयत–बहिरंग और अन्तरंग आस्रवों से विरत होने वाला महाव्रती श्रमण संयत है। शुभोपयोग युक्त होने पर वह प्रमत्त और आत्मसंवित्ति में रत होने पर अप्रमत्तसंयत कहलाता है।

संयतासंयत–पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों से संयुक्त होना संयमासंयम है। उसके धारक और असंख्यात गुणश्रेणी रूप निर्जरा के द्वारा कर्मों को झाड़ने वाले सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत, संयतासंयत या श्रावक कहलाते हैं।

संयम–सम्यक् प्रकार से यम अर्थात् नियंत्रण संयम है। व्रत-समिति-गुप्ति आदि में अच्छी तरह से स्वयं को, स्वयं के लिये, स्वयं में तल्लीन करना संयम है।

संवर–मिथ्यादर्शन आदि से होने वाले कर्मों का संवरण–रुक जाना द्रव्य संवर है। और संसार की निमित्तभूत क्रिया-निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम भाव संवर है।

संसार–मिथ्यात्व-कषाय आदि से युक्त जीव का एक शरीर से दूसरे शरीर में संसरण–परिभ्रमण होना संसार है। और अनादिकाल से अष्ट कर्मों से मोहित हुआ, स्व-स्वरूप से अनभिज्ञ, गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थान में स्थित आत्मा संसारी है।

सत्य–यथातथ्य कथन जो हित-मित हो वह सत्य है। सत्य अणुव्रत रूप से भी ग्रहण किया जाता है और महाव्रत रूप से भी।

समय–जघन्य गति से एक परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने काल में जाता है, वह काल का सूक्ष्मतम अविभागी काल समय कहलाता है।

समवसरण–अर्हन्त भगवान के धर्मोपदेश देने की सभा, जहां मनुष्य, तिर्यञ्च व देव-असुरादि उनकी अमृत वाणी से कर्ण तृप्त करते हैं। यह समवसरण देवकृत होता है।

समिति–सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति समिति है। समिति पांच प्रकार की है– ईर्यासमिति–विवेक से चलना, भाषा समिति–विवेक पूर्वक बोलना, एषणा समिति–बयालीस दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करना, आदान निक्षेपण समिति–ज्ञान के उपकरण, संयमोपकरण को यतनापूर्वक उठाना और रखना तथा प्रतिष्ठापन समिति–स्थावर व जंगम प्राणियों की विराधना न हो ऐसे निर्जन व जन्तु रहित स्थान में मल-मूत्रादि का विसर्जन करना, उत्सर्ग समिति है।

सम्यग्दर्शन–वीतराग अर्हन्त को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु और दया को उत्कृष्ट धर्म मानना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। तथा ज्ञेय और ज्ञाता इन दोनों की यथारूप प्रतीति निश्चय सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दृष्टि–सूत्र प्रणीत जीवादि पदार्थों को हेय व उपादेय बुद्धि से जानने और श्रद्धा रखने वाला सम्यग्दृष्टि है।

सुधर्मा–ये कोल्लाग सन्निवेश के निवासी अग्निवैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता धम्मिल थे और माता भद्दिला थी। पांच सौ छात्र इनके पास अध्ययन करते थे। पचास वर्ष की अवस्था में शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ली। ४२ वर्ष छद्मस्थ रहे। महावीर निर्वाण के बारह वर्ष व्यतीत होनें पर केवली हुए। आठ वर्ष केवली पर्याय में रहे।

श्रमण भगवान के सर्व गणधरों में सुधर्मा दीर्घजीवी थे, अतः अन्यान्य गणधरों ने अपने-अपने निर्वाण के समय अपने-अपने गण सुधर्मा को सौंप दिये थे।

भगवान के निर्वाण के २० वर्ष पश्चात् सौ वर्ष की परिपूर्ण आयु भोगकर मासिक अनशन पूर्वक राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

सुमेरु–यह मध्यलोक का सर्वप्रधान पर्वत है। तीन लोक का मानदण्ड, विदेह क्षेत्र के बहुमध्य भाग में स्थित स्वर्णवर्ण व कूटाकार है। यह जम्बूद्वीप में एक, धातकी खण्ड व पुष्करार्घ द्वीप में दो-दो हैं। इस प्रकार कुल पांच सुमेरु हैं। इसके व्रजमूल, सवैडूर्य चूलिक, मणिचित्त, सुरालय, मेरु, सुमेरु,

महामेरु, सुदर्शन, मन्दर, शैलराज आदि अनेकों नाम विद्वानों ने वर्णित किये हैं।

स्कन्ध–परस्पर सम्बद्ध परमाणुओं का समूह स्कन्ध कहलाता है। ये स्कन्ध कोई सूक्ष्म होते हैं, कोई स्थूल। कुछ चाक्षुष–चक्षु के विषय होते हैं और कुछ अचाक्षुष।

स्याद्वाद–अनेकान्तमयी-अनेकधर्म वाली वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। किसी भी एक शब्द द्वारा वस्तु के समस्त धर्मों का युगपत् कथन करना अशक्य है अतः प्रयोजनवश कभी किंसी एक धर्म को प्रधान बनाकर, वस्तु का कथन किया जाता है; कभी दूसरे धर्म को प्रधान बनाकर। परन्तु वह कथन सापेक्ष होना चाहिये, निरपेक्ष नहीं। स्यात् का अर्थ कथंचित्–"किसी अपेक्षा से" है, और वाद अर्थात् कथन। अपेक्षाभेद से वस्तु का कथन करना स्याद्वाद कहलाता है। संसार के सभी झगड़े स्याद्वाद से मिटाये जा सकते हैं।

हिंसा–प्रमाद के वश होकर जीव के प्राणों का व्यपरोपण कर देना हिंसा है।

हेतु–जो साध्य के साथ अविनाभावी रूप से निश्चित हो अर्थात् साध्य के बिना न रहे, उसे हेतु कहते हैं। जैसे अग्नि का हेतु धूम। धूम, बिना अग्नि के कभी नहीं रहता।

क्षयोपशम–कर्मों के एकदेश क्षय तथा एकदेश उपशम होने को क्षयोपशम कहते हैं। यद्यपि यहां कुछ कर्मों का उदय रहता है, परन्तु उनकी शक्ति अत्यन्त क्षीण होने से वे जीव के गुणों को घातने में समर्थ नहीं होते।

तात्पर्य यह कि उदयागत सर्वघातिक कर्मों का क्षय और अनुदय प्राप्त का उपशम तथा देशघातिक का उदय रूप कर्म की अवस्था क्षयोपशम है।

क्षायिक भाव–कर्मों का क्षय हो जाने पर जीव में जो ज्ञाता-द्रष्टा भाव व अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है, वह क्षायिक भाव है।

क्षायिक सम्यक्त्व–दर्शनमोहनीय कर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

त्रस–अपनी रक्षार्थ स्वयं चलने-फिरने की शक्ति वाले जीव त्रस कहलाते हैं। दो इन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं। लोक के मध्य में

भगवती सूत्र की सूक्तियाँ

१. जे ते अप्पमत्तसंजया ते णं
नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव–अणारंभा। –१/१
आत्मसाधना में अप्रमत्त रहने वाले साधक न अपनी हिंसा करते हैं, न दूसरों की, वे सर्वथा अनारंभ–अहिंसक रहते हैं।

२. इह भविए वि नाणे, परभविए वि नाणे,
तदुभयभविए वि नाणे। –१/१
ज्ञान का प्रकाश इस जन्म में रहता है, पर जन्म में रहता है, और कभी दोनों जन्मों में भी रहता है।

३. अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ। –१/३
अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, अर्थात् सत् सदा सत् ही रहता है और असत् सदा असत्।

४. अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव संवरइ। –१/३
आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा–आलोचना करता है, और अपने द्वारा ही कर्मों का संवर–आस्रव का निरोध करता है।

५. अजीव जीवपइट्ठिया,
जीवा कम्मपइट्ठिया। –१/६
अजीव–जड़ पदार्थ जीव के आधार पर रहे हुए हैं, और जीव (संसारी प्राणी) कर्म के आधार पर रहे हुए हैं।

६. स वीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति। –१/८
शक्तिशाली (वीर्यवान्) जीतता है और शक्तिहीन निर्वीर्य पराजित हो जाता है।

७. आया णे अज्जो ! सामाइए,
आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे। —१।९

हे आर्य ! आत्मा ही सामायिक (समत्वभाव) है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि) है।

(इस प्रकार गुण गुणी में भेद नहीं, अभेद है।)

८. गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे। —१।९

गर्हा (आत्मालोचन) संयम है, अगर्हा संयम नहीं है।

९. अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ।
अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ। —१।९

अस्थिर बदलता है, स्थिर नहीं बदलता।

अस्थिर टूट जाता है, स्थिर नहीं टूटता।

१०. करणओ सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा। —१।१०

कोई भी क्रिया किए जाने पर ही सुख दुःख का हेतु होती है, न किए जाने पर नहीं।

११. सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥ —२।५

सत्संग से धर्मश्रवण, धर्मश्रवण से तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से विज्ञान = विशिष्ट तत्त्वबोध, विज्ञान से प्रत्याख्यान = सांसारिक पदार्थों से विरक्ति, प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनास्रव = नवीन कर्म का अभाव, अनास्रव से तप, तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश, पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता = सर्वथा कर्मरहित स्थिति और निष्कर्मता से सिद्धि—अर्थात् मुक्त स्थिति प्राप्त होती है।

१२. जीवा णो वड्ढंति, णो हायंति, अवट्ठिया। —५।८

जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं, किन्तु सदा अवस्थित रहते हैं।

१३. नेरइयाणं णो उज्जोए, अंधयारे। —५।९

नारक जीवों को प्रकाश नहीं, अंधकार ही रहता है।

१४. जीवे ताव नियमा जीवे,
जीवे वि नियमा जीवे। —६।१०

जो जीव है वह निश्चित रूप से चैतन्य है,

और जो चैतन्य है वह निश्चित रूप से जीव है।

१५. समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भइ। —७।१

समाधि (सुख) देने वाला समाधि पाता है।

१६. दुक्खी दुक्खेणं फुडे,

नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे। —७।१

जो दुःखित = कर्मबद्ध है, वही दुःख = बन्धन को पाता है,

जो दुःखित = बद्ध नहीं है, वह दुःख = बन्धन को नहीं पाता।

१७. अहासुत्तं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जई

उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ॥ —७।१

सिद्धान्तानुकूल प्रवृत्ति करने वाला साधक ऐर्यापथिक (अल्पकालिक) क्रिया का बंध करता है। सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाला सांपरायिक (चिरकालिक) क्रिया का बंध करता है।

१८. जीवा सिय सासया सिय असासया।

······दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया। —७।२

जीव शाश्वत भी हैं, अशाश्वत भी।

द्रव्यदृष्टि (मूल स्वरूप) से शाश्वत हैं, तथा भावदृष्टि (मनुष्यादि पर्याय) से अशाश्वत।

१९. भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे

महापज्जवसाणे भवइ। —७।७

भोग-समर्थ होते हुए भी जो भोगों का परित्याग करता है वह कर्मों की महान् निर्जरा करता है, उसे मुक्तिरूप महाफल प्राप्त होता है।

२०. हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे। —७।८

आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुंथुआ—दोनों में आत्मा एक समान है।

२१. जीवियास-मरण-भयविप्पमुक्का। —८।७

सच्चे साधक जीवन की आशा और मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त होते हैं।

२२. एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे
अणेगे जीवे हणइ। —९।३४

एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ आत्मा तत्संबंधित अनेक जीवों की हिंसा करता है।

२३. एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ। —९।३४

एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनंत जीवों की हिंसा करने वाला होता है।

२४. अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू। —१२।२

अधार्मिक आत्माओं का सोते रहना अच्छा है और धर्मनिष्ठ आत्माओं का जागते रहना।

२५. अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू। —१२।२

धर्मनिष्ठ आत्माओं का बलवान होना अच्छा है और धर्महीन आत्माओं का दुर्बल रहना।

२६. नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे,
जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि। —१२।७

इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो।

२७. मायी विउव्वइ, नो अमायी विउव्वइ। —१३।९

जिसके अन्तर् में माया का अंश है, वही विकुर्वणा (नाना रूपों का प्रदर्शन) करता है। अमायी (सरल आत्मा वाला) नहीं करता।

२८. जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति,
नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति। —१६।२

आत्माओं के कर्म चेतनाकृत होते हैं, अचेतना कृत नहीं।

२९. नेरइया सुत्ता, नो जागरा। —१६।६

आत्मजागरण की दृष्टि से नारक जीव सुप्त रहते हैं, जागते नहीं।

३०. अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे। —१७।५

आत्मा का दुःख स्वकृत है, अपना किया हुआ है, परकृत अर्थात् किसी अन्य का किया हुआ नहीं है।

३१. जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-झाणा—

ऽवस्सयमादीएसु जोगेसु जयणा, से त्तं जत्ता। —१८।१०

तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि योगों में जो यतना विवेक युक्त प्रवृत्ति है, वही मेरी वास्तविक यात्रा है।

●●

सन्दर्भ स्थल :–

१. भगवती ५/८

२. तनुवात का अर्थ है–पतली हवा। हल्की चीज भारी चीज को धारण कर लेती है, अतः तनुवात पर घनवात मोटी हवा है।

३. वृहदारण्यक में गार्गी और याज्ञवल्क्य का संवाद है। देखिए लेखक का ''जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण ग्रन्थ'' पृ. ४८

४. ''सुप्रतिष्ठक'' एक प्रकार का बर्तन होता है, जो नीचे से चौड़ा, बीच में संकड़ा तथा ऊपर कुछ चौड़ा बीच में संकड़ा तथा ऊपर कुछ चौड़ा होकर फिर संकड़ा हो जाता है।

५. रज्जु का प्रमाण–३,८१,२७,९७० मन के वजन को एक भार कहते हैं, ऐसे १००० भार का लोहे का गोला, उसे कोई देवता ऊंचे स्थान से नीचे की ओर डाले, वह गोला ६ महीने, ६ दिन, ६ पहर, और ६ घड़ी में जितना क्षेत्र उल्लंघन करे उतने क्षेत्र को एक रज्जु कहते हैं।

६. प्रज्ञापना २३/१/२८२

७. भगवती ९

८. ''द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च।
तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्॥

–पात. भाष्य ४, ३३

९. उत्तराध्ययन २८/९

१०. भगवती १३/४

११. परिव्राजक भिक्षा से आजीविका करने वाला साधु–निरुक्त १/१४ वैदिक कोश। जैन आगमों में व उत्तरवर्ती साहित्य में तापस, परिव्राजक, संन्यासी आदि अनेक प्रकार के साधकों का विस्तृत वर्णन है। इसके लिए औपपातिक सूत्र, सूत्र० निर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति गा. ३१४, वृहत्कल्प भाष्य भा० ४ पृ० ११७० निशीथ सूत्र सभाष्य चूर्णि भा० २ व भगवती सूत्र ११/९, आवश्यक चूर्णि पृ. २७८, धम्मपद अट्ठकथा २ पृ० २०९, दीघनिकाय अट्ठकथा १ पृ० २७० ललित विस्तर पृ० २४८ और जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४१२, ४१६ तक में देख सकते हैं।

गेरुआ वस्त्र धारण करने से ये गेरुआ या गैरिक भी कहे जाते हैं। (निशीथ चू० १३-४४२०) परिव्राजक श्रमण, ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित पंडित होते थे। विशिष्ट धर्मसूत्र के उल्लेखानुसार परिव्राजक को अपना सिर मुण्डित रखना, एक वस्त्र व चर्म खण्ड धारण करना, गायों द्वारा उखाड़ी हुई घास से अपने शरीर को आच्छादित करना और उसे जमीन पर सोना चाहिये (१०३-११,

मलालसेकर, डिक्सनरी आव पाली प्रोपर नेम्स जिल्द २, पृ० १५९ आदि, महाभारत १२, १९०,३)

१२. विशाला-महावीर जननी तस्या अपत्यमिति वैशालिकः-
भगवांस्तस्य वचनं शृणोति तद्रसिकत्वादिति वैशालिकः।

१३. श्रावकः तद्वचनामृतपाननिरत इत्यर्थः निर्ग्रन्थः श्रमण इत्यर्थः।
—भग० टीका पत्र २०१

१४. भगवती सूत्र के प्रस्तुत वर्णन से ज्ञात होता है, कि स्कन्दक ने भगवान से जिन प्रश्नों का समाधान पाया, तथाप्रकार के प्रश्न उस युग के दार्शनिक मस्तिष्क में चारों ओर चक्कर काट रहे थे। अनेक परिव्राजक, संन्यासी और श्रमण उन प्रश्नों पर चिन्तन-मनन करते रहते थे, यथार्थ समाधान के अभाव में इधर उधर विज्ञों से व धर्म प्रवर्तकों से समाधान पाने के लिए घूमते रहते थे। तथागत बुद्ध के पास भी इसी प्रकार के प्रश्न लेकर अनेक जिज्ञासु आते थे, पर बुद्ध उसे अव्याकृत कहकर उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करते थे (मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्य सूत्र ६३, दीघनिकाय, पोट्ठपाद सूत्र १/९) जबकि महावीर इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान करके जिज्ञासुओं को आत्म-साधना की ओर मोड़ने का उपक्रम करते थे। —लेखक

१५. देखिये-ज्ञान के विशेष विस्तार के लिए "जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण" ज्ञानवाद : एक परिशीलन पृ. ३२५

१६. तत्त्वार्थ सूत्र अ. २ सू. २२

१७. विषय-विषयि सन्निपातान्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचर दर्शनाज्जातमाद्यम्, अवान्तर सामान्याकार विशिष्ट वस्तुग्रहणमवग्रहः। —प्रमाणनयतत्त्वालोक, परि. २ सू. ७

१८. अवगृहीतार्थ विशेषाकांक्षणमीहा। —प्रमाण. सूत्र ८

१९. ईहित विशेष निर्णयोऽवायः। —प्रमाण. सूत्र ९

२०. स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा। —प्रमाण. परि. २ सूत्र १०

२१. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। —तत्त्वार्थ सूत्र

२२. अवधिज्ञान का इतना विषय है परन्तु अलोक में कुछ जानने देखने योग्य न होने से वह सम्पूर्ण लोक में विशेष निर्मल रूप से जानता व देखता है।

२३. ठाणांग १ सूत्र ४५

२४. धवला ७/२,१, ७/११/११

२५. राजवार्तिक ८/९/५/५७५/४, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, जीवप्रकरण ३३/२८/५

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

आचारांग
व्यवहारभाष्य
अनुयोगद्वार
भगवतीसूत्र
स्थानाङ्ग
विशेषावश्यकभाष्य-मलधारीया वृत्ति
तत्त्वार्थभाष्य टीका
आवश्यकनिर्युक्ति
नन्दीसूत्र
तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
वाजसनेयी संहिता
ऋग्वेद
सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट
मनुस्मृति
वृहदारण्यकोपनिषद्
जाबालोपनिषद्
वशिष्ठ धर्मशास्त्र
तैत्तिरीय संहिता
ऐतरेय ब्राह्मण
संस्कृति के चार अध्याय
कठोपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
समवायाङ्ग सूत्र
षट्खण्डागम
कषाय पाहुड
शिक्षा-समुच्चय
दशवैकालिक टीका

भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला —पुण्यविजय जी म.
प्रज्ञापना
भारत की भाषाएं और भाषा सम्बन्धी समस्याएं
आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन भाग-२ —डॉ. मुनि नगराज
बुद्ध चरित
फिलोसफी विगिन्स इन वंडर
दर्शन का प्रयोजन —डॉ. भगवान दास
वैशेषिक दर्शन
सांख्य कारिका
मीमांसा सूत्र
ब्रह्मसूत्र
छान्दोग्योपनिषद्
कठोपनिषद्
कर्मग्रन्थ
जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १ —डॉ. सागरमल जैन
इसिभासियं
दशवैकालिक
पिण्डनिर्युक्ति
अभिधान राजेन्द्र कोष
उत्तराध्ययन चूर्णि
स्थानाङ्ग टीका
बौद्ध धर्म-दर्शन भाग-१ —भरतसिंह उपाध्याय
अभिधम्मत्थ संगहो
धम्मपद अट्ठकथा
अंगुत्तरनिकाय
योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति
व्यवहार सूत्र
भगवद्गीता
मैत्रायणी आरण्यक
उववाई सूत्र

अष्टक प्रकरण—आचार्य हरिभद्र
प्रवचनसारोद्धार वृत्ति
प्रवचनसार
मूलाराधना
भगवती आराधना
वृहत्कल्प भाष्यवृत्ति
वसुनन्दि श्रावकाचार
उत्तराध्ययन-शान्त्याचार्य टीका
चन्द्रप्रज्ञप्ति
तैत्तिरीय आरण्यक
योग-दर्शन-आचार्य पतंजलि
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-आचार्य सिद्धसेन
योगशास्त्र-आचार्य हेमचन्द्र
शतपथ ब्राह्मण
महामंगलसुत्त-सुत्तनिपात
भगवान बुद्ध—धर्मानन्द कोसाम्बी
सुत्तनिपात
तीर्थंकर महावीर—मुनि इन्द्रविजयजी
डिक्शनरी ऑव पाली प्रोपर नेम्स—मलालसेकर
महाभारत
निशीथ चूर्णि
वैदिक कोष
वृहत्कल्पभाष्य
धम्मपद अट्ठकथा
दीघनिकाय अट्ठकथा
ललित विस्तर
मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्य सुत्त
आगम युग का जैन दर्शन—पं. दलसुख मालवणिया
याज्ञवल्क्य स्मृति
गौतम स्मृति
आपस्तम्ब सूत्र

मत्स्य पुराण
धर्म संग्रहणी-मलयगिरि टीका
द्रव्यगुण पर्याय रास–उपाध्याय यशोविजय जी
लोक प्रकाश
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक–विद्यानन्द स्वामी
दर्शन और चिन्तन–पं. सुखलालजी सिंघवी
पंचाध्यायी
सांख्य प्रवचन
दर्शन अने चिन्तन-भाग-२ पं. सुखलाल सिंघवी
बाइबल ओल्ड टेस्टामेंट
जैन साहित्य का वृहत् इतिहास
श्रीमद्भागवत
धम्मपद अट्ठकथा–आचार्य बुद्धघोष
पातञ्जल महाभाष्य
सुमंगल विलासनी दीघनिकाय अट्ठकथा
महासच्चक सूत्र
विनयपिटक
आवश्यक मलयगिरिवृत्ति
त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरियं–आचार्य हेमचन्द्र
महावीर चरियं–आचार्य नेमिचन्द्र
भाव संग्रह
मज्झिमनिकाय अट्ठकथा-आचार्य बुद्धघोष
भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास–डॉ. सत्यकेतु
प्रमाणनयतत्त्वालोक
प्रमाण मीमांसा
दशवैकालिक सूत्र–अगस्त्यसिंह चूर्णि
दशवैकालिक सूत्र–जिनदास चूर्णि
समयसार
न्याय कोष
हरिवंश पुराण
जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण